मुक्तिमिच्छसि चेत् तात ! विषयान् विषवत् त्यज ।
क्षमार्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज ॥

अष्टावक्र गीता

अनुवादक :
स्वामी श्री अखण्डानंदजी सरस्वती

अष्टावक्र गीता

अनुवादक

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

प्रकाशक :
मन्त्री, स्वामीश्री अखण्डानन्द सरस्वती सेवा-संस्थान
सीके. ३६/२०, ढुण्ढिराज
वाराणसी—१

•

श्रावण शुक्ला पञ्चमी २०४१
१-७-८४

•

मूल्य : (वितरणार्थं)

•

मुद्रक :
आनन्द कानन प्रेस
सीके. ३६/२०, ढुण्ढिराज
वाराणसी—१
फोन : ६२६८२

सुगम-से-सुगम

राजर्षि जनक, महामुनि श्रीअष्टावक्रजीका दर्शन-सत्संग करके राजधानीके लिए प्रस्थान करते समय घोड़ेकी बायीं ओर लटकते रिक़ावमें अपना बायाँ पाँव डाल चुके थे। पीठ पर बैठनेके लिए अभी दाहिना पाँव उठाया नहीं था। इतनेमें श्रीअष्टावक्रजीकी धीर-गम्भीर, प्रसन्न-वाणी प्रतिध्वनित हो उठी—

'अरे राजा ! तू नित्य, शुद्ध-बुद्ध-मुक्त अद्वितीय चिद्-ब्रह्म है, देहको अपना आत्मा मानकर झूठ-मूठ भवाटवीमें भटक रहा है। यह तो अज्ञानका जंगल है। तुझसे अन्य, अमंगल है। लगा दे अज्ञानके जंगलमें आग। न राग, न भाग। न संग्रह, न त्याग। बस; तू ही तू है !'

राजा ज्यों-का-त्यों अवाक् देखता ही रह गया। यह क्या ? मैं ही अद्वितीय ब्रह्म हूँ ! धन्य है, धन्य है !! राजा कृतकृत्य हो गया। कुछ जानना, करना, छोड़ना पाना शेष नहीं रहा। निर्द्वन्द्व, निर्भय। एक क्षणमें कल्पित अनादि आवरण भंग हो गया। नित्य-सिद्ध असंगता प्रकट हो गयी। जब दूसरा है ही नहीं तो आसक्ति एवं विरक्ति भी किससे ?

अध्ययन-कालमें 'श्री अष्टावक्र गीता' दृष्टिगोचर हुई। इतनी सरल इतनी ललित। बोल-बोलकर श्लोक पढ़नेमें आनन्द आता। सचमुच 'सत्य' अवक्र है, टेढ़ा नहीं है। उसमें कोई दाव-पेंच नहीं है; इसके निरूपणमें भी कोई दाव-पेंच नहीं है। उसमें किसी प्रकारकी मायिक अथवा प्राकृत ग्रन्थि नहीं है। अष्टधा प्रकृतिके जोड़-तोड़-मोड़ से सर्वथा विमुक्त है। उपनिषदोंमें सावधान रहकर ध्यानपूर्वक तात्पर्य ढूँढ़ना पड़ता है। 'अद्वैत-सिद्धि, चित्सुखी, खण्डन एवं धिक्कार' आदि बड़े-बड़े ग्रन्थोंमें पर-मतके निरसन एवं आक्षेप-प्रतिक्षेप पर ही दृष्टि अटक जाती है। कभी-कभी दृष्टि

भटक भी जाती है। परन्तु 'अष्टावक्र गीता', जिज्ञासुके हृदयको तत्क्षण प्रकाशित कर देती है और विशुद्ध अनुभव रसको अपने स्वरूपके रूपमें ही निरावरण कर देती है।

एक कथा और सुनी थी।

राजा जनक अपने महलमें शयन कर रहे थे। उन्हें स्वप्न हुआ, अद्भुत स्वप्न! वे एक दीन-हीन भिक्षुक हैं। तीन दिन तक खाने-पीनेको कुछ नहीं मिला। कहींसे किसी प्रकार चावल-दाल मिले। मृत्तिका पात्रमें पकाने लगे। उसी समय लड़ते हुए दो बैल वहाँ आये। वह खिचड़ी नष्ट-भ्रष्ट हो गयी। नींद टूट गयी और स्वप्नके दृश्य अदृश्य हो गये। महल, पलंग, रात्रिका सुख-शयन सब ज्यों-का-त्यों मिला।

प्रश्न उठा, 'यह सत्य कि वह सत्य ?' अर्थात् जो स्वप्न देखा वह सत्य या जाग्रत्में देखा वह सत्य ? राजा जनककी सभामें आने लगे विद्वान्, होने लगे प्रश्न-समाधान। समस्या रही ज्यों-की-त्यों 'यह सत्य कि वह सत्य ?' अन्ततोगत्वा श्रीअष्टावक्र महामुनि पधारे। उनके टेढ़े-मेढ़े शरीर, विचित्र रंग-ढंग, लुढ़कते हुए चलना आदि देखकर सभासद् हँसने लगे। राजा जनकको भी हँसी आगयी। अष्टावक्रजीने धीर-गम्भीर स्वरसे पूछा—'आपलोग किसको देखकर हँस रहे हैं ? शरीरके उपादान अर्थात् पञ्चभूत, परमाणु, प्रकृति, माया या परब्रह्मको—भाई, उसमें तो कोई भेद नहीं है। सबका मूल मसाला एक ही है। यदि बनानेवाले परमेश्वर पर हँस रहे हो तो उसकी रचना, उसके कला-कौशलको देख-देखकर आनन्द लेनेको है। उसकी हँसी उड़ानेका कोई कारण नहीं है। सम्पूर्ण सभामें गम्भीरता छा गयी। इस बे-डील-डौलके बालकने कमाल कर दिया। सत्य तो यह है कि ज्ञान किसी आकृतिकी अपेक्षा नहीं रखता और न तो व्यक्ति-विशेषके पराधीन ही है। वह स्वयंप्रकाश ही है।

बात यह थी कि वरुण लोकमें बड़े-बड़े विद्वानोंकी आवश्यकता थी। वरुणने अपना एक विशिष्ट विद्वान् जनककी सभामें भेज दिया। वह

शास्त्रार्थमें जिस किसीको पराजित करता उसे जलमें डूबो दिया जाता। वरुणके दूत उसको आदरपूर्वक आयोजित सभामें ले जाते। उन्हीं डुबोये हुए विद्वानोंमें अष्टावक्रके पिता कहोल ऋषि भी थे। जब अष्टावक्रको यह ज्ञात हुआ तब वे राजा जनककी सभामें पधारे और वहाँ यही प्रश्न हो था—'यह सत्य या वह सत्य ?'

विद्वद्-वृन्द इस प्रश्नका उत्तर देनेमें असमर्थ था।

अष्टावक्रजीने घोषणा कर दी—'न यह सत्य न वह सत्य।' स्वप्न, जाग्रत् दोनों ही जिस अधिष्ठानमें अध्यस्त हैं, जिस स्वयं-प्रकाश, प्रकाशके द्वारा प्रकाशित हैं—एक मात्र वही सत्य है। सत् अधिष्ठान एवं चित् प्रकाश दोनों एक ही है और वह अपना आत्मा ही है। यह, वह, मै, तुम ये सब व्यर्थ हैं, मिथ्या हैं।

वरुणलोकका यज्ञ समाप्त हो चुका था। कहोल ऋषि मुक्त कर दिये गये थे। 'महामुनि अष्टावक्रकी जय हो' के नारोंसे सम्पूर्ण सभा-मण्डल गूँज उठा। उसी अष्टावक्र मुनि ने यह गीता राजा जनकको सुनायी थी।

प्रश्न तथा उत्तरोंपर गम्भीरतासे विचार करनेपर स्पष्ट रूपसे ज्ञात होता है कि यहाँ (अष्टावक्र गीतामें) गुरु और शिष्य दोनों ही तत्त्वज्ञ हैं।

जिज्ञासुओंके कल्याणके लिए ही गुरु और शिष्यका कल्पित भेद बनाकर सूक्ष्म-वस्तुका निरूपण किया गया है। ध्यानमें रहे कि तत्त्वज्ञानके लिए शिष्यकी जिज्ञासा एवं गुरुका समाधान नितान्त आवश्यक है। यदि शिष्य दृश्य विषयोंके चिन्तनमें ही लगा रहेगा तो उसके विचार तत्त्वस्पर्शी या तत्त्वदर्शी नहीं होंगे। जो बन्धनके हेतु हैं उन्हींको विषय कहते हैं। जितना-जितना विषयोंका त्याग होता जायेगा, त्याग करनेवाला विषयोंके भारसे मुक्त होकर अपने शुद्ध स्वरूपमें विराजमान होगा। त्याग करनेवालेको ही आत्माका ज्ञान होता है, क्योंकि त्यागके अनन्तर जो शेष बच रहता है, वह प्रत्यगात्मा ही परमपद है। जैसे, अधिष्ठानमें अच्छाई-बुराईका

कितना भी अध्यास किया जाय, परन्तु वह अध्यस्त विषयों पर किञ्चित् भी विरोध-निरोध नहीं करता, उसी प्रकार संसारियोंके द्वारा माने हुए अपराधियोंके प्रति क्षमा, सरलता, जीवनमें आनी चाहिए। दयाका अर्थ है किसीको अपने आत्मासे अलग मानकर क्रूरता नहीं करनी चाहिए। ब्रह्मके समान ही अपनेमें शान्ति, सन्तोष एवं अबाधित सत्यताका अनुभव करना चाहिए। जो ज्ञानियोंका अनुभव है, उसीको लक्ष्यमें रखकर जिज्ञासुकी साधना होती है। इसका अभिप्राय यह है कि अन्तःकरण यदि शुद्ध हो तो, श्रवण-मात्रसे ही तत्त्वज्ञान हो जाता है।

अष्टावक्र मुनिका कहना है कि आप अपनेको पञ्चभूतोंके साक्षीके रूपमें जानिये। मुक्तिका एकमात्र साधन यही है। साक्षीका अर्थ इस प्रकार समझिये कि आप संसारको इन्द्रियोंके द्वारा देखते हैं; मनके द्वारा अच्छा-बुरा, अपना-पराया मानते हैं। यह मिट्टी-पानी है ऐसा ऐन्द्रयिक ज्ञान है। यह उचित-अनुचित, मेरा-तेरा है, ऐसा मानस-ज्ञान है। काम-क्रोधादि साक्षी-भास्य हैं। इसी प्रकार स्वप्न एवं सुषुप्तिकी भी स्थिति है। इन्हें बिना किसी इन्द्रियके और बिना मनके साक्षी देखता है। देखता है अर्थात् ये सब बिना किसी करणके ही प्रकाशित होते हैं। परम्परासे श्रुत-मत अथवा शास्त्रके द्वारा परोक्ष रूपसे कल्पित पदार्थ भी तभी भासते हैं, जब अन्तःकरणकी वृत्ति तदाकार होती है। इसलिए भूत, भविष्य, वर्तमानके, दूर-निकटके, स्थूल-सूक्ष्मके जितने भी भान होते हैं, वे सब तत्-तत् कल्पनासे युक्त अन्तःकरणमें ही भासते हैं। परलोक एवं ईश्वरकी भी यही गति है। ऐसी अवस्थामें ये सब साक्षीभास्य हैं एवं तत्तदाकार वृत्तिसे तादात्म्य होने पर ही ये जीवन-लाभ करते हैं। इनकी सत्ता एवं स्फूर्ति साक्षीकी ही अविद्यामूलक भ्रान्तिके कारण पृथक् प्रतीत होती है। प्रतीत होनेपर भी वस्तुतः यह चिन्मात्र वस्तुसे पृथक् नहीं होता।

अष्टावक्र मुनि कहते हैं—'किसी भी वस्तुका ध्यान मत करो, समाधि मत लगाओ। दूसरेका अन्वेषण मत करो। तुम अपनेको जानो कि अपना

आपा क्या है। मुक्ति कोई परोक्ष वस्तु नहीं है। न कहींसे आती-जाती है और न कहींसे मिलती है। यह किसीकी दी हुई नहीं होती है। केवल तुम अपने यथार्थ स्वरूपका निर्णय कर लो। इस निश्चयपर पहुँच जाओ कि मैं ही नित्य, शुद्ध, बुद्ध, मुक्त अद्वितीय, ब्रह्म हूँ। मेरे अतिरिक्त दूसरी कोई वस्तु नहीं है। विवेकके लिए ही 'मैं' शब्दका प्रयोग है। अनुभवमें 'अहं' पद, पदार्थ एवं वाक्यान्वयकी कोई मति-गति-स्थिति नहीं है। अनुभव, अनुभव ही है। उसमें अनुभवी एवं अनुभवका विषय, यह द्वैत भी नहीं है। इस अद्वैत सत्यका जितना स्पष्ट विशद वर्णन अष्टावक्र मुनिने किया है, उतना अन्यत्र दुर्लभ ही है।

जिज्ञासुको सदा सावधान रहना चाहिए। व्याकरणकी रीतिसे 'साक्षी' शब्दका अर्थ होता है, 'साक्षात् द्रष्टा'। साक्षात्का अर्थ समझिये। रूप देखनेके लिए नेत्र चाहिए। नेत्रकी मन्दता-तीव्रता-अन्धता आदि जाननेके लिए बुद्धि चाहिए। बुद्धिकी शान्ति, एकाग्रता, विक्षेप, सुषुप्ति आदिको जो जानता है, वह किसी कारणके माध्यमसे नहीं जानता। वह स्वयं जानता है। इस स्वयंताका अनुभव क्या है? यह साक्षी है, ऐसा सोचना मूर्खतापूर्ण है। वह साक्षी है, यह कोरी कल्पना है; 'मैं' साक्षी हूँ, इसमें अपना भ्रममूलक व्यक्तित्व मिश्रित हो जाता है। अतएव 'साक्षी' कोई स्थिति नहीं है। यह विवेककी एक प्रक्रिया है। जब अपनेको दिक्-कालकी कल्पनावाले अन्तःकरणके साक्षीके रूपमें देखेंगे तो विविधता, विस्तार एवं नित्यता, ये तीनों मूर्च्छित हो जायेंगे। मूर्च्छित माने अपनी आत्मामें अध्यस्त जड़। ऐसी स्थितिमें जिज्ञासुको यह भ्रम होता है कि द्रष्टाभावमें वृत्ति टिकती नहीं है या द्रष्टामें स्थिति नहीं होती है। यह सब अविचार-मूलक है। द्रष्टा स्थिति होनेके लिए नहीं है, यह वृत्ति टिकानेके लिए नहीं है। दृश्यसे पृथक्त्वका विवेक करनेके लिए केवल आलम्बन मात्र है। विवेक हो जानेपर यह स्वयं-प्रकाश, परिच्छेद सामान्यके अत्यन्ताभावसे उपलक्षित अद्वितीय ब्रह्म ही है।

और भी देखिये—अन्तःकरणको संकल्प-विकल्प-वासना-विक्षेप आदिसे मुक्त करनेके लिए समाधिकी आवश्यकता होती है। परन्तु जो अन्तः-करणका अधिष्ठान चेतन है; स्वयं अनुभवस्वरूप है, उसको अनुभाव्य बनानेके लिए समाधि नहीं लगायी जाती। तत्त्वानुभूतिमें, समाधि बाधक ही है, साधक नहीं। जहाँ वृत्ति ही नहीं रहती वहाँ निवर्त्य-निवर्तक भाव नहीं रह सकता। अतः समाधि अज्ञानको निवृत्त नहीं कर सकती। समाधिके अभ्यासमें जो कर्तृत्व रहता है, उसको मिटानेमें भी समाधि समर्थ नहीं है। ऐसी अवस्थामें समाधिका आग्रह अन्तःकरणको मैं, मेरा समझनेके कारण ही है और समाधिका आग्रह स्वयंमें एक ग्रन्थि ही है।

अच्छा, आइये! द्रष्टाकी स्थितिका आग्रह छोड़ दिया। समाधिकी भी कोई आवश्यकता नहीं है। परन्तु, चिन्तन तो होना चाहिए न! अच्छाजी, यह तो बताइये कि 'सत्य' क्या चिन्तनके घेरेमें आ गया? चिन्तन 'सत्य'को भी चिन्ताकार बना देगा अर्थात् आप जैसा चिन्तन करेंगे उसीके आकारमें 'सत्य' भासने लगेगा। अतः बाह्यार्थ-विषयक वासनाके अन्तर्वेगके निवृत्तिमें उपयोगी होनेपर भी अनुभवमें चिन्तनकी कोई अपेक्षा नहीं है। चिन्तन द्वितीयका होता है, अप्राप्तका होता है। जहाँ, जब, कोई कुछ द्वैत है ही नहीं तो चिन्तन क्या?

ज्ञानका प्रकृष्ट सर्वोत्तम, निरुत्तर, निरतिशय स्वरूप क्या है? जिसमें ज्ञातारूप अहं और ज्ञेयरूप इदं न हो। इसीका नाम है 'प्रज्ञान'। प्रज्ञान अर्थात् अन्तःकरणरूप उपाधिके सम्बन्धसे सर्वथा विनिर्मुक्त ज्ञान। वही है अपना स्वरूप—'त्वं' पदका लक्ष्यार्थ। यही है साक्षात् ब्रह्म! भेद-छेद विशेष, माया, अविद्या, द्वैत सबसे रहित ब्रह्म। ब्रह्मका साक्षात्कार नहीं है, असाक्षात्कारके भ्रमकी निवृत्तिसे उपलक्षित स्वयं।

आश्चर्य है! आश्चर्य है!! आत्मा, शुद्ध-अद्वितीय, ज्ञानस्वरूप है। शुद्ध, चिद्वस्तु चिन्मात्र। द्वैतकी तो गन्ध ही नहीं है। मैंने अपनेको न जानकर ही देहको आत्मा मान रखा था। यह परिच्छिन्न, जड़, अनेक

द्रव्योंका समूह कथमपि आत्मा नहीं हो सकता। परन्तु, मैंने इसीको आत्मा मान लिया है। इसीमें कल्पित इन्द्रियरूप नेत्रोंसे देख-देखकर बड़ा भारी भूतोंका समूह बना लिया। देहको आत्मा मानना और देहके झरोखेसे अनेकताको देखना, यह सब मोहका ही विलास है। जीव-जगत्के जितने भेद हैं, वह सब अपनेको परिच्छिन्न देह माननेके कारण ही है। जब आत्मा आकाशका भी प्रकाशक, 'चिदाकाश' ही है तो उसके किस अंशमें यह प्रपञ्च अध्यस्त है? न जीव है न जगत्, यह तो एक प्रतीतिमात्र है। इनका कोई नियन्ता भी नहीं है। द्वैत भासता है इससे क्या हुआ? क्या जो चीज भासती है, वह सत्य होती है? जो प्रतीत हो उसके सत्य होनेका कोई नियम नहीं है। आकाशकी नीलिमा इसका प्रत्यक्ष उदाहरण है।

ज्ञानसे जिसको सत्ता, स्फूर्ति मिलती है और ज्ञान ही जिसकी प्रियताका मूल है, वह सत्ता, स्फूर्ति एवं प्रियता ज्ञानसे भिन्न नहीं होती। इसका अर्थ है कि आत्मासे प्रतीत होनेवाली वस्तु आत्मस्वरूप ही होती है। सब प्रज्ञानघन ही है। केवल आत्मा ही है। प्रतीति भी आत्मा है, प्रतीत भी आत्मा ही है। तब यह सब क्या है? आत्मा! ठीक है। फिर भ्रम क्या है? इनको पृथक् समझना, उल्टी बुद्धि। अपने आत्मा को ही अन्य समझना भ्रम है। दीख रहा है, ठीक है। छाया दीख रही है, पर जिसकी है, प्रकाशती है क्या उससे वह पृथक् है? केवल देह, आत्मा नहीं है। देहसहित सम्पूर्ण विश्व आत्मा है। उसकी उत्पत्ति, स्थिति, प्रलयकी कल्पना भी आत्मा है। ज्ञानस्वरूप आत्माकी तरङ्ग भी ज्ञानस्वरूप ही है। जीव, जगत्, ईश्वर सब उल्लासमात्र प्रतीत होने पर भी आत्मा ही है।

अच्छा तो, यह व्यक्तित्व क्या है? व्यक्तित्व अर्थात् परिच्छिन्नत्व। यदि अपनेमें परिच्छिन्नत्वकी कल्पना न हो तो प्रपञ्चका भान नहीं होगा। इन्द्रियोंसे, जो देहमें रहती हैं, शब्दादिरूप प्रपञ्चका भान होता है; उचित, अनुचित क्रिया होती है। प्राणोंसे चेष्टा होती है। मनसे नाम रखे जाते

हैं। संस्कारयुक्त बुद्धिसे धर्म-अधर्म, अनुकूल-प्रतिकूल कल्पित हो जाते हैं। यह सब कहाँ है? व्यक्तित्वमें। व्यक्तित्वका मूल क्या है? दृश्यमान अनात्मामें आत्मत्वका भ्रम। भ्रमका मूल है अपने स्वरूपका अज्ञान। वस्तुतः यह अज्ञान कुछ भी नहीं है। परन्तु, जबतक व्यक्तित्वमें अहंभाव है, तबतक 'मैं अपनेको ब्रह्म नहीं जानता' ऐसी प्रतीति होती है। प्रतीति चाहे जो हो, उसका विषय मिथ्या ही होता है। अज्ञान निवर्तक होनेसे ही ब्रह्मात्मैक्य ज्ञान उपयोगी है। अन्यथा, अपने स्वरूपमें ज्ञानाज्ञानका भेद भी कल्पित ही है।

अज्ञान दशामें, व्यक्तित्वकी शुद्धि आवश्यक है। वह शुद्धि क्या है? वह शुद्धि यह है कि विवेकसे देखनेपर जिस-जिसका मैं साक्षी हूँ, वह मेरा स्वरूप नहीं हैं। न वह सुख है, न चेतन है और न तो उसकी अबाधित सत्ता ही है। जब उसका कोई सत्त्व-महत्त्व ही नहीं है, तो उसके प्रति राग-द्वेषका कोई प्रयोजन नहीं है। राग-द्वेष शिथिल हुए—बस निश्चिन्त! हो सो हो, दिखे सो दिखे, दृश्यके सम्बन्धमें कुछ भी ध्यान-धारणा करनेकी आवश्यकता नहीं है। अपनेको व्यक्तित्वके कारागारसे मुक्त करनेके लिए मुमुक्षापूर्वक सद्गुरुसे अखण्डार्थका श्रवण, मनन कर लीजिये। विरक्त मुमुक्षु एवं तीव्र जिज्ञासुके लिए वेदान्तका श्रवणमात्र ही पर्याप्त है। संशयालुके लिए मनन तथा विपर्ययीके लिए निदिध्यासनकी आवश्यकता होती है।

तत्त्वज्ञानके द्वारा अविद्याकी निवृत्ति हो जानेपर व्यक्तित्वका क्या होता है? वह स्वाप्निक व्यक्तित्वके समान रहता है। वह केवल प्रतीति-समकालिक ही है। न आगे, न पीछे; न दूर, न निकट; न स्व, न अन्य। व्यक्तित्व माने केवल प्रतीति। स्वप्न-पुरुषमें कौन-से गुण रहें, कौन-से दोष न रहें। उसका पूर्व जन्म कैसा था, उत्तर जन्म कैसा होगा—यह सब निरर्थक प्रलाप है। इस प्रलाप-संलापमें रस लेनेपर विलापका अपलाप नहीं होगा। अतः व्यक्तित्व स्वाप्निक व्यक्तित्वके समान ही प्रतीत होता है, उसके लिए चिन्ता-सन्तानके सूत्रसे व्यर्थ जाल बुननेकी प्रवृत्ति, जीवन्मुक्तिके

विलक्षण सुख अथवा परम स्वातन्त्र्यमें बाधक है। साधक-बाधकका भेद भी व्यक्तित्वका ही चमत्कार है। कोई भी विशेष या भेद व्यक्तित्वका ही चमत्कार है। अधिष्ठान चेतन आत्मासे पृथक् उसका कोई भी अस्तित्व नहीं है। 'आत्मैवेदं सर्वम्'; 'ब्रह्मैवेदं सर्वम्; स एवेदं सर्वम्; 'अहमेवेदं सर्वम्'।

जब पहले-पहल वेदान्तमें रुचि हुई तो दो ग्रन्थोंने मुझे विशेषरूपसे आकृष्ट किया। एक : अष्टावक्र गीता और दूसरा : माण्डूक्य-कारिका। प्रायः इन दोनों ग्रन्थोंके सब श्लोक मुझे कण्ठस्थ हो गये थे। संन्यासी होनेपर मेरे परमप्रिय आत्मा दण्डीस्वामी श्री प्रबोधानन्द सरस्वती मुझसे अष्टावक्र-गीता सुनते रहे। उन्होंने ही आग्रह करके यह अनुवाद करा लिया। इस ग्रन्थकी भाषा और शैली इतनी सरल है कि इसपर टीकाकी आवश्यकता नहीं है। फिर भी श्रीपीताम्बरजीने तथा श्रीजीवानन्द विद्यासागरने इसपर संस्कृतमें टीका लिखी है। श्री जालिम सिंहजीकी हिन्दी टीका भी प्रसिद्ध है। चालीस वर्षसे अधिक हो गये, यह हिन्दी अनुवाद श्रीदण्डी स्वामीजीके पास रहा है। दूसरी प्रति अपने संग्रहमें थी। अब श्री आर० बी० गुप्ता तथा उनके जामाता श्री विनोद बेसवालके अनुरोधपर तथा उन्हींके सम्पूर्ण व्ययसे यह ग्रन्थ प्रकाशित हुआ है। भगवान् उनको और उनके परिवारको ऐसी मंगलमयी प्रेरणा सर्वदा देते रहें। मेरा दृढ़ विश्वास है कि जो जिज्ञासु युक्ति-जालसे, खण्डन-मण्डनसे एवं वागाडम्बरसे बचकर सरल हृदयसे ब्रह्म, आत्माकी सिद्ध एकताका अनुभव प्राप्त करना चाहते हैं, उनके लिए यह ग्रन्थ अमोघ रामबाणके समान है और निश्चित रूपसे परमपदकी प्राप्तिके योग्य बनानेवाला है तथा नित्यप्राप्त परमपदके असाक्षात्कारके भ्रमको मिटानेवाला है।

ॐ शान्तिः शान्तिः शान्तिः।

* सत्साहित्य पढ़िये *

पूज्यपाद अनन्तश्री स्वामी अखण्डानन्द सरस्वतीजी महाराज द्वारा विरचि

१. माण्डूक्य-प्रवचन (आगम, वैतथ्य, अद्वैत प्रकरण) २६.५०
२. कठोपनिषद्-प्रवचन—१ ९.००
३. कठोपनिषद्-प्रवचन—२ १२.००
४. ईशावास्य-प्रवचन ४.००
५. सांख्ययोग (दूसरा अध्याय) ९.७५
६. कर्मयोग (तीसरा अध्याय) ६.००
७. ध्यानयोग (छठाँ अध्याय) ६.००
८. ज्ञान-विज्ञान-योग (सातवाँ अध्याय) ६.००
९. विभूतियोग (दसवाँ अध्याय) ५.२५
१०. भक्तियोग (बारहवाँ अध्याय) ८.००
११. पुरुषोत्तम योग (पन्द्रहवाँ अध्याय) ५.००
१२. गीता-दर्शन—१ से ८ तक ४२.००
१३. नारद भक्ति-दर्शन १५.००
१४. भक्ति-सर्वस्व १०.००
१५. ब्रह्मसूत्र-प्रवचन—१ से ३ ३०.००
१६. वेणुगीत ३.००
१७. महाराजश्रीका एक परिचय २.००
१८. गोपियोंके पाँच प्रेमगीत २.००
१९. भागवत विचार-दोहन ३.००
२०. वाल्मीकि रामायणामृत २०.००
२१. भागवतामृत १५.००
२२. योगः कर्मसु कौशलम् ३.००
२३. भागवत-दर्शन (दो खण्डों में) २००.००
२४. गीतामें मानव-धर्म भक्ति-ज्ञान समन्वय ८.००
२५. प्रार्थना षट्पदी (प्रवचन) ४.५०
२६. कपिलोपदेश ३.७५
२७. व्यवहार और परमार्थ ३.७५
२८. मानव-जीवन और भागवत-धर्म ४.५०
२९. राम-शताब्दी-स्मृति १५.००
३०. विवेक कीजिये १ और २ १४.५०

पाठकोंकी सुविधाके लिए ट्रस्ट की भिन्न-भिन्न सदस्यता-श्रेणियाँ हैं, जिनके अन्तर्गत पूरा साहित्य भेंटस्वरूप एवं कमीशन पर दिया जाता है। कृपया अधिक जानकारीके लिए कार्यालयसे सम्पर्क कीजिये।

प्राप्ति स्थान

— सत्साहित्य-प्रकाशन ट्रस्ट —

'विपुल' २८/१६, बी० जी० खेर मार्ग, मालाबार हिल, बम्बई—६

फोन : ८१७९७६

ॐ

अष्टावक्र-गीता

: १ :

कथं ज्ञानमवाप्नोति कथं मुक्तिर्भविष्यति ।
वैराग्यं च कथं प्राप्तमेतद्ब्रूहि मम प्रभो ॥ १ ॥

जनक उवाच –

समर्थ गुरुदेव ! ज्ञान प्राप्तिका क्या उपाय है ? मेरी मुक्ति किस प्रकार होगी ? वैराग्य कैसे मिलेगा ? आप (कृपा करके) मुझे बतलाइये ॥ १ ॥

मुक्तिमिच्छसि चेत्तात विषयान् विषवत्त्यज ।
क्षमार्ज्जवदयातोषसत्यं पीयूषवद्भज ॥ २ ॥

अष्टावक्र उवाच—

प्रिय (राजन्) ! यदि तुम मुक्ति चाहते हो तो विषयोंको विषके समान (जानकर) छोड़ दो और क्षमा, सरलता, दया, सन्तोष एवं सत्यका अमृतके समान सेवन करो ॥ २ ॥

न पृथ्वी न जलं नाग्निर्न वायुर्द्यौर्न वा भवान् ।
एषां साक्षिणमात्मानं चिद्रूपं विद्धि मुक्तये ॥ ३ ॥

तुम न पृथिवी हो, न जल हो, न अग्नि हो, न वायु हो और न तो आकाश ही हो, मुक्तिके लिए तुम अपने आपको इन सबका साक्षी एवं चित्-स्वरूप जानो ॥ ३ ॥

यदि देहं पृथक्कृत्य चिति विश्राम्य तिष्ठसि ।
अधुनैव सुखी शान्तः बन्धमुक्तो भविष्यसि ॥ ४ ॥

यदि तुम देहको अलग करके अपने चित्स्वरूप आत्मामें पूर्ण-रूपसे स्थित हो जाओ (अनात्म-तादात्म्यका परित्याग कर दो) तो अभी-अभी तुम सुखी, शान्त एव बन्धन-मुक्त हो जाओगे ॥ ४ ॥

न त्वं विप्रादिको वर्णो नाश्रमी नाक्षगोचरः ।
असङ्गोऽसि निराकारो विश्वसाक्षी सुखी भव ॥ ५ ॥

न तुम ब्राह्मणादि वर्ण हो, न ब्रह्मचारी आदि आश्रमी हो और न तो तुम दृश्य ही हो । तुम असंग हो, निराकार हो, विश्व-साक्षी हो अतः तुम सुखी (निश्चिन्त) हो जाओ ॥ ५ ॥

धर्माऽऽधर्मौ सुखं दुःखं मानसानि न ते विभो ।
न कर्त्ताऽऽसि न भोक्ताऽऽसि मुक्त एवासि सर्वदा ॥ ६ ॥

ओ अनन्त ! धर्म-अधर्म एवं सुख-दुःखका केवल मनसे ही सम्बन्ध है तुमसे नहीं । तुम न कर्त्ता हो और न तो भोक्ता हो । तुम स्वरूपतः नित्य मुक्त हो ॥ ६ ॥

एको द्रष्टाऽऽसि सर्वस्य मुक्तप्रायोऽसि सर्वदा ।
अयमेव हि ते बन्धो द्रष्टारं पश्यसीतरम् ॥ ७ ॥

तुम सम्पूर्ण दृश्य प्रपंचके एकमात्र द्रष्टा एवं सर्वदा-सर्वथा

मुक्त ही हो। तुम्हारा बन्धन यही है कि तुम द्रष्टाको अपनेसे पृथक् समझते हो (द्रष्टा अपने आपसे पृथक् नहीं हो सकता क्योंकि वह दृश्य हो जायगा) ॥ ७ ॥

अहं कर्त्तेत्यहंमानमहाकृष्णाहिदंशितः।
नाहं कर्त्तेति विश्वासामृतं पीत्वा सुखी भव ॥ ८ ॥

'मैं कर्त्ता हूँ' इस अभिमान रूप महान् अजगरने तुमको डँस लिया है। 'मैं अकर्त्ता हूँ' इस विश्वास (निष्ठा) रूप अमृतका पान करके तुम सुखी हो जाओ ॥ ८ ॥

एको विशुद्धबोधोऽहमिति निश्चयवह्निना।
प्रज्वाल्याज्ञानगहनं वीतशोकः सुखी भव ॥ ९ ॥

मैं एक एवं विशुद्ध बोधस्वरूप हूँ, इस महान् निश्चयकी आगसे अज्ञानका घोर जंगल जलाकर तुम शोक-रहित एवं सुखी हो जाओ ॥ ९ ॥

यत्र विश्वमिदं भाति कल्पितं रज्जुसर्पवत्।
आनन्दपरमानन्दः स बोधस्त्वं सुखं चर ॥१०॥

जिस अधिष्ठान आत्मामें रज्जुमें सर्पके समान यह सम्पूर्ण विश्व कल्पित होकर भान हो रहा है वह आनन्द-परमानन्द बोधस्वरूप तुम्हीं हो। अतः सुखसे विचरो ॥ १० ॥

मुक्ताभिमानी मुक्तो हि बद्धो बद्धाभिमान्यपि।
किंवदन्तीह सत्येयं या मतिः सा गतिर्भवेत् ॥११॥

जिस चित्तमें 'मैं मुक्त हूँ' ऐसा अभिमान है, वह मुक्त है और

जिसमें 'मैं बद्ध हूँ' ऐसा अभिमान है वह बद्ध है, यह लोकोक्ति सत्य है कि जैसी मति वैसी गति ॥ ११ ॥

आत्मा साक्षी विभुः पूर्ण एको मुक्तश्चिदक्रियः ।
असङ्गो निःस्पृहः शान्तो भ्रमात्संसारवानिव ॥१२॥

आत्मा, साक्षी, विभु, पूर्ण, अद्वितीय, मुक्त, चेतन, निष्क्रिय असंग निस्पृह एवं शान्त है वह भ्रमसे ही संसारी (कर्त्ता, भोक्ता, आने-जानेवाला) मालूम पड़ता है ॥ १२ ॥

कूटस्थं बोधमद्वैतमात्मानं परिभावय ।
आभासोऽहं भ्रमं मुक्त्वा भावं भावं बाह्यमथान्तरम् ॥१३॥

'मैं (कर्त्ता, भोक्ता) चिदाभास (जीव, हूँ' इस भ्रमको तथा बाह्य और आभ्यन्तर भेद-भावको छोड़कर तुम अपने आपको अद्वितीय बोध-स्वरूप कूटस्थ अनुभव करो ॥ १३ ॥

देहाभिमानपाशेन चिरं बद्धोऽसि पुत्रक ।
बोधोऽहं ज्ञानखङ्गेन तन्निष्कृत्य सुखी भव ॥१४॥

वत्स ! तुम चिरकालसे देहाभिमानके फन्देमें फँस रहे हो । 'मैं बोध-स्वरूप हूँ' इस ज्ञानकी तलवारसे उसे काटकर सुखी हो जाओ (ज्ञानसे जिसकी निवृत्ति होती है वह मिथ्या होती है, इस लिए बन्ध मिथ्या है) ॥ १४ ॥

निःसंगो निष्क्रियोऽसि त्वं स्वप्रकाशो निरञ्जनः ।
अयमेव हि ते बन्धः समाधिमनुतिष्ठसि ॥१५॥

तुम असंग, अक्रिय, स्वयंप्रकाश, अतएव स्वतः शुद्ध हो। तुम्हारा

वन्धन तो यही है कि तुम समाधिका अनुष्ठान करते हो। (स्व-स्वरूप सर्वाधिष्ठान है। स्वतः सिद्ध है साध्य नहीं) ॥ १५ ॥

त्वया व्याप्तमिदं विश्वं त्वयि प्रोतं यथार्थतः ।
शुद्धबुद्धस्वरूपस्त्वं मागमः क्षुद्रचित्तताम् ॥१६॥

यह सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच तुमसे भरपूर है और वस्तुतः (सूतमें वस्त्रके समान) तुममें ही ओत-प्रोत है। तुम शुद्ध-बुद्ध स्वरूप हो। तुम क्षुद्र चित्त मत बनो। (अल्प वस्तुमें तादात्म्य मत करो) ॥ १६ ॥

निरपेक्षो निर्विकारो निर्भरः शीतलाशयः ।
अगाधबुद्धिरक्षुब्धो भव चिन्मात्रवासनः ॥१७॥

तू किसीकी अपेक्षा मत रख, विकृत मत हो, दृश्य पदार्थके लिए चिन्ता मत कर (जो हो सो होने दो)। अन्तःकरणको शीतल रख ! तेरी बुद्धिकी थाह किसीको न मिले। अनन्तमें लगी रहे) ! किसी कारणसे क्षुब्ध मत हो। एकमात्र चित्-स्वरूपमें ही निष्ठा रख (वृत्ति क्रियामें नहीं ॥ १७ ॥

साकारमनृतं विद्धि निराकारं तु निश्चलम् ।
एतत्तत्त्वोपदेशेन न पुनर्भवसम्भवः ॥१८॥

आकारसे (भावात्मक या अभावात्मक) सम्बन्ध रखनेवाली वस्तुको मिथ्या समझो (क्योंकि आकृति ही मिथ्या है तो उसका सम्बन्धी तो निश्चय ही मिथ्या है। सर्प मिथ्या है तो रस्सीकी आधारता भी मिथ्या है, अधिष्ठान है, आधार नहीं) जो आकृति और उसके सम्बन्धसे रहित है वह अचल है (आकृति सम्बन्धी

भावाभावात्मक प्रत्ययों—चल-बोधोंका साक्षी है) इस तत्त्वका उपदेश प्राप्त कर लेनेपर पुनर्जन्मकी सम्भावना मिट जाती है ॥१८॥

यथैवादर्शमध्यस्थे रूपेन्तः परितस्तु सः ।
तथैवास्मिञ्छरीरेऽन्तः परितः परमेश्वरः ॥१९॥

जैसे दर्पणमें दीखनेवाले रूपमें बाहर और भीतर एकमात्र दर्पण ही है ठीक वैसे ही इस शरीरके सम्बन्धमें भी है। इसके बाहर भीतर भी एकमात्र परमेश्वर ही है (जैसे दर्पणके भीतर प्रतिबिम्ब शरीर प्रतीति मात्र है, वैसे ही एकरस सच्चिदानन्द आत्मतत्त्वमें यह जगत् और शरीर है ॥ १९ ॥

एकं सर्वगतं व्योम बहिरन्तर्यथा घटे ।
नित्यं निरन्तरं ब्रह्म सर्वभूतगण तथा ॥२०॥

जैसे एक सर्वगत आकाश ही घड़ेके भीतर और बाहर स्थित है वैसे ही देश, काल और वस्तुके परिच्छेदसे रहित, सजातीय-विजातीय-स्वगत-भेद शून्य परमार्थ सत्य ब्रह्म ही समस्त दृश्य-पदार्थोंके बाहर और भीतर स्थित है। (आकाशकी अनन्तताकी दृष्टिसे जैसे घट कोई वस्तु नहीं है वैसे ही ब्रह्म-दृष्टिसे दृश्यमान पदार्थ कोई वस्तु नहीं है) ॥ २० ॥

7 नम्बर कैसेट में यह श्लोक

: २ :

अहो निरञ्जनः शान्तो बोधोऽहं प्रकृतेः परः ।
एतावन्तमहं कालं मोहेनैव विडंबितः ॥ १ ॥

आश्चर्य्य है ! आश्चर्य्य है !! मैं तो शुद्ध, शान्त, ज्ञानस्वरूप एवं प्रकृतिसे सर्वथा परे हूँ । इतने समयतक अज्ञानने ही मुझे दुनियाँके बखेड़ेमें फँसा रखा था ॥ १ ॥

यथा प्रकाशयाम्येको देहमेनं तथा जगत् ।
अतो मम जगत्सर्वमथवा न च किंचन ॥ २ ॥

जैसे मैं अकेला ही इस शरीरको प्रकाशित करता हूँ । वैसे ही सम्पूर्ण जगत्को भी (शरीरके साथ सम्पूर्ण जगत् प्रकाश्य है एक मात्र मैं प्रकाशक हूँ) । इसलिए सम्पूर्ण जगत् मेरा है (एक शरीरको मेरा मानना अज्ञान है) अथवा कुछ भी मेरा नहीं है ॥ २ ॥

सशरीरमहो विश्वं परित्यज्य मयाऽऽधुना ।
कुतश्चित्कौशलादेव परमात्मा विलोक्यते ॥ ३ ॥

बड़े आश्चर्य्यकी बात है कि मैं शरीर और सम्पूर्ण दृश्य-जगत्का परित्याग करके किसी अनिर्वचनीय कौशलसे वर्तमान क्षणमें ही परमात्माका दर्शन कर रहा हूँ (दृश्यको बाधित कर देना ही कौशल है । स्वतः सिद्ध द्रष्टाका बोध ही उसका दर्शन है) ॥ ३ ॥

यथा न तोयतो भिन्नास्तरङ्गाः फेनबुद्बुदाः ।
आत्मनो न तथा भिन्नं विश्वमात्मविनिर्गतम् ॥ ४ ॥

जैसे तरंग, फेन और बुदबुदे जलसे भिन्न नहीं हैं, वैसे ही यह दृश्यमान प्रपंच भी आत्म-सत्तासे पृथक् नहीं है क्योंकि यह आत्मासे ही प्रकाशित है। (प्रकाश्यका अस्तित्व प्रकाशककी अपेक्षापर ही निर्भर है) आपेक्षिक सत्ता वास्तवमें मिथ्या ही है ॥ ४ ॥

तन्तुमात्रो भवेदेव पटो यद्वद्विचारतः ।
आत्मतन्मात्रमेवेदं तद्वद्विश्वं विचारितम् ॥ ५ ॥

जैसे विचार करनेपर वस्त्र तन्तुमात्र ही है पृथक् नहीं, वैसे ही विचार करनेपर यह सम्पूर्ण विश्व केवल आत्म-सत्ता ही है ॥ ५ ॥

यथैवेक्षुरसे क्लृप्ता तेन व्याप्तैव शर्करा ।
तथा विश्वं मयि क्लृप्तं मया व्याप्तं निरन्तरम् ॥ ६ ॥

जैसे मिठास गन्नेके रसमें कल्पित है और रससे व्याप्त ही है, वैसे ही यह सम्पूर्ण विश्व मुझमें कल्पित है और मुझसे ही व्याप्त है (मिठासकी अनुभूतिमें रसना उपाधि है इसलिए उसकी सत्ता आपेक्षिक अतएव मिथ्या है। सत्य वस्तुकी अनुभूति किसी भी इन्द्रिय अथवा वृत्ति रूप उपाधिकी अपेक्षा नहीं रखती, अतः वह स्वतः सिद्ध और सर्वत्र है ॥ ६ ॥

आत्माऽज्ञानाज्जगद्भाति आत्मज्ञानान्न भासते ।
रज्ज्वज्ञानादहिर्भाति तज्ज्ञानाद्भासते न हि ॥ ७ ॥

अपने आपको न जाननेसे जगत्‌की (सत्यताकी) प्रतीति होती है। अपने आपको जान लेनेपर नहीं होती। रस्सीको न जाननेसे साँपकी प्रतीति होती है, जाननेपर नहीं ॥ ७ ॥

प्रकाशो मे निजं रूपं नातिरिक्तोऽस्म्यहं ततः।
यदा प्रकाशते विश्वं तदाऽऽहंभास एव हि ॥ ८ ॥

मेरा निज स्वरूप है प्रकाश (ज्ञान)। मैं उससे पृथक् नहीं हूँ। जब जब यह विश्व प्रकाशित होता है तब-तब मेरे प्रकाशसे ही (ज्ञानकी सत्तासे ही) पृथक-पृथक् ज्ञेय भासित होते हैं। ज्ञेय निर्पेक्ष जो शुद्ध ज्ञान है वही अपना स्वरूप है।) ॥ ८ ॥

अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते।
रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा ॥ ९ ॥

आश्चर्य है कि जैसे सीपमें चाँदी, रस्सीमें साँप एवं सूर्यकी किरणोंमें जलकी प्रतीति होती है वैसे ही यह अज्ञान-कल्पित विश्व मुझमें भास रहा है ॥ ९ ॥

मत्तो विनिर्गतं विश्वं मय्येव लयमेष्यति।
मृदि कुम्भो जले वीचिः कनके कटकं यथा ॥१०॥

जैसे मिट्टीमें घड़ा, जलमें तरंग और स्वर्णमें कड़ा समा जाता है वैसे ही मुझसे प्रकाशित यह विश्व मुझमें ही समा जायगा ॥ १० ॥

अहो अहं नमो मह्यं विनाशो यस्य नास्ति मे।
ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्तं जगन्नाशेऽपि तिष्ठतः ॥११॥

मैं धन्य (आश्चर्यस्वरूप) हूँ; मुझे नमस्कार है क्योंकि मेरा कभी विनाश नहीं है। ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक सम्पूर्ण विश्वका नाश होनेपर भी मैं स्थित रहता हूँ ॥ ११ ॥

अहो अहं नमो मह्यमेकोऽहं देहवानपि ।
क्वचिन्न गन्ता नागन्ता व्याप्य विश्वमवस्थितः ॥१२॥

मैं धन्य हूँ, मुझे नमस्कार है, क्योंकि मैं देहधारी होनेपर भी अद्वितीय हूँ और न कहीं जाता हूँ, न आता हूँ। सम्पूर्ण विश्वमें व्याप्त होकर स्थित हूँ ॥ १२ ॥

अहो अहं नमो मह्यं दक्षो नास्तीह मत्समः ।
असंस्पृश्य शरीरेण येन विश्वं चिरं धृतम् ॥१३॥

मैं धन्य हूँ, मुझे नमस्कार है। मेरे समान चतुर और कोई नहीं है क्योंकि मैं तो शरीरका तो स्पर्श नहीं करता और चिर-कालसे विश्वको धारण किये हुए हूँ ॥ १३ ॥

अहो अहं नमो मह्यं यस्य मे नास्ति किञ्चन ।
अथवा यस्य मे सर्वं यद्वाङ्मनसगोचरम् ॥१४॥

मैं धन्य हूँ मुझे नमस्कार है क्योंकि मेरा कुछ नहीं है अथवा जो कुछ वाणी और मनका विषय है वह सब मेरा ही है ॥ १४ ॥

ज्ञानं ज्ञेयं तथा ज्ञाता त्रितयं नास्ति वास्तवम् ।
अज्ञानाद्भाति यत्रेदं सोऽहमस्मि निरञ्जनः ॥१५॥

ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाता वास्तवमें तीनों नहीं हैं। जिस

अधिष्ठानमें अज्ञानसे यह द्वैत प्रतीत होता है वह मायामलसे रहित शुद्ध ब्रह्म मैं ही हूँ ।। १५ ।।

द्वैतमूलमहो दुःखं नान्यत्तस्यास्ति भेषजम् ।
दृश्यमेतन्मृषा सर्वमेकोऽहं चिद्रसोऽमलः ॥१६॥

आश्चर्य है कि समस्त दुःखका एकमात्र कारण द्वैत ही है। उसकी कोई दूसरी दवा नहीं है (बस, ऐसा बोध ही दवा है कि यह सम्पूर्ण दृश्य मिथ्या है और मैं अद्वितीय शुद्ध एव चिदानन्द स्वरूप हूँ ।। १६ ।।

बोधमात्रोऽहमज्ञानादुपाधिः कल्पितो मया ।
एवं विमृश्यतो नित्यं निर्विकल्पे स्थितिर्मम ॥१७॥

मैं वस्तुतः बोध-स्वरूप हूँ। अपने स्वरूपके अज्ञानसे मैंने उपाधिकी कल्पना कर ली है (मिथ्या दृश्यको सत्य मानकर उससे तादात्म्य कर लिया है) नित्य ऐसा विचार करते रहनेपर यह स्वयं सिद्ध हो जाता है कि मेरी स्थिति निर्विकल्पमें है (मेरे चित्तकी निष्ठा निर्विकल्पमें हो जाती है) ।। १७ ।।

अहो मयि स्थितं विश्वं वस्तुतो न मयि स्थितम् ।
न मे बन्धोऽस्ति मोक्षो वा भ्रान्तिः शान्तानिराश्रया ।। १८

न तो कभी मुझे बन्धन हुआ और न तो मोक्ष। कितने आश्चर्यकी बात है कि मुझमें सम्पूर्ण विश्वकी प्रतीति होते रहनेपर भी वह वस्तुतः मुझमें नहीं है। आश्रयहीन होनेके कारण (मुझ शुद्ध आत्माके साथ आश्रयाश्रयी-भाव सम्बन्ध न होनेसे) भ्रान्ति स्वयं शान्त हो गयी ।। १८ ।।

सशरीरमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चितम् ।
शुद्धचिन्मात्र आत्मा च तत्कस्मिन्कल्पनाऽऽधुना ॥१९

यह निश्चय है कि शरीरके साथ यह सम्पूर्ण विश्व कुछ भी नहीं है और आत्मा शुद्ध चिन्मात्र है फिर (अब यह कल्पना किसमें सम्भव है ? (अर्थात् किसीमें नहीं) ॥ १९ ॥

शरीरं स्वर्गनरकौ बन्धमोक्षौ भयं तथा ।
कल्पनामात्रमेवैतत्किं मे कार्यं चिदात्मनः ॥२०॥

यह शरीर, स्वर्ग, नरक, बन्ध, मोक्ष और भय सबका सब केवल कल्पना मात्र है। फिर मुझ चिदात्माका क्या कुछ कर्तव्य शेष है ? ॥ २० ॥

अहो जनसमूहेऽपि न द्वैतं पश्यतो मम ।
अरण्यमिव संवृत्तं क्व रतिं करवाण्यहम् ॥२१॥

आश्चर्य तो यह है कि भीड़-भाड़में भी मुझ द्वैत नहीं दीखता, सब सूने जंगलके समान हो गया। अब मैं प्रीति किससे करूँ ? ॥ २१ ॥

नाहं देहो न मे देहो जीवो नाहमहं हि चित् ।
अयमेव हि मे बंध आसीद्या जीविते स्पृहा ॥२२॥

न मैं देह हूँ और न तो मेरा देह। मैं जीव भी नहीं हूँ। मैं तो शुद्ध चेतन हूँ। मेरा बन्ध तो केवल इतना ही था कि मैं जीवित रहना (मिथ्या जीवन सम्बन्धी धारणाओंमें आबद्ध रहना) चाहता था ॥ २२ ॥

अहो भुवनकल्लोलैर्विचित्रैर्द्राक् समुत्थितम् ।
मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते समुद्यते ॥ २३ ॥

मैं एक अनन्त महासमुद्र हूँ । मुझमें जब चित्तकी वायु चलने लगती है तब झट-पट बहुत-से दृश्य पदार्थोंकी तरंगें उठने लगती हैं (सम्पूर्ण दृश्य प्रपंच मेरे संकल्पका ही पसारा है) ॥ २३ ॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ चित्तवाते प्रशाम्यति ।
अभाग्याज्जीववणिजो जगत्पोतो विनश्वरः ॥२४॥

मैं एक अनन्त महासमुद्र हूँ, जगत जहाज है और जीव व्यापारी । जब उसके दुर्भाग्यसे चित्तरूप वायु (संकल्प) शान्त हो जाता है तब जगत्का जहाज नष्ट हो जाता है ॥ २४ ॥

मय्यनन्तमहाम्भोधावाश्चर्यं जीववीचयः ।
उद्यन्ति घ्नन्ति खेलन्ति प्रविशन्ति स्वभावतः ॥ २५

बड़े आश्चर्यकी बात है कि मुझ अनन्त महा समुद्रमें बहुत-सी जीवरूपी तरंगें स्वभावसे ही उठती हैं । आपसमें टकराती हैं, लहराती हैं और समा जाती हैं । (अन्तःकरण रूप उपाधिकी स्थितियोंका संकेत है) ॥ २५ ॥

: ३ :

अविनाशिनमात्मानमेकं विज्ञाय तत्त्वतः ।
तवात्मज्ञस्य धीरस्य कथमर्थार्जने रतिः ॥ १ ॥

तुमने अद्वितीय अविनाशी आत्माको तत्त्वतः (अभेद रूपसे) जान लिया है; तुम आत्मज्ञ हो, धीर हो। फिर धन कमानेमें तुम्हारी प्रीति क्यों है ? ॥ १ ॥

आत्माऽऽज्ञानादहो प्रीतिर्विषयभ्रमगोचरे ।
शुक्रेरज्ञानतो लोभो यथा रजतविभ्रमे ॥ २ ॥

जैसे सीपको न जाननेसे भ्रान्ति-सिद्ध चाँदीका लोभ होता है वैसे ही अपने स्वरूपको न जाननेसे ही विषयोंमें सत्यत्व-भ्रान्तिके कारण प्रीति होती है ॥ २ ॥

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे ।
सोऽहमस्मीति विज्ञाय किं दीन इव धावसि ॥ ३ ॥

जिस अधिष्ठान चैतन्यमें यह सम्पूर्ण विश्व समुद्रमें तरंगोंके समान स्फुरित हो रहा है वह मैं ही हूँ। ऐसा जानकर भी तुम दीन-हीनके समान विषयियोंके समान क्यों दौड़-धूप कर रहे हो ॥ ३ ॥

श्रुत्वाऽऽपि शुद्धचैतन्यमात्मानमतिसुन्दरम् ।
उपस्थेऽत्यन्तसंसक्तो मालिन्यमधिगच्छति ॥ ४ ॥

मैं अत्यन्त सुन्दर शुद्ध चैतन्य हूँ—ऐसा गुरु एवं शास्त्रसे श्रवण करके भी जो भी जननेन्द्रिय-सम्बन्धी विषय-भोगमें अत्यन्त आसक्त है उसे मालिनताकी प्राप्ति होती है ॥ ४ ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि ।
मुनेर्जानत आश्चर्यं ममत्वमनुवर्तते ॥ ५ ॥

यह बड़े आश्चर्यकी बात है कि सम्पूर्ण दृश्य पदार्थोंमें अपनेको और अपनेमें समस्त दृश्य पदार्थोंको जाननेवाले विवेकशील पुरुषके चित्तमें भी ममता बनी रह जाती है, ऐसा सर्वथा नहीं होना चाहिए ॥ ५ ॥

आस्थितः परमाद्वैतं मोक्षार्थेऽपि व्यवस्थितः ।
आश्चर्यं कामवशगो विकलः केलिशिक्षया ॥ ६ ॥

सजातीय विजातीय-स्वगत-भेद-शून्य अद्वैत वस्तुमें निष्ठा होनेपर एवं नित्य-मुक्त-स्वरूप आत्माका दृढ़ निश्चय हो जानेपर भी बड़े आश्चर्यकी बात है कि पूर्वाभ्यासके कारण तुम कामके अधीन होकर विकल हो जाते हो ॥ ६ ॥

उद्भूतं ज्ञानदुर्मित्रमवधार्यातिदुर्बलः ।
आश्चर्यं काममाकाङ्क्षेत्कालमन्तमनुश्रितः ॥ ७ ॥

ज्ञानका शत्रु है काम । शरीर-सम्बन्धी सारे पदार्थ मृत्यु-ग्रस्त

हैं। बड़े आश्चर्यकी बात है कि इस बातको जानकर भी तुम कमजोर हो जाते हो और भोगकी आकांक्षा करते हो ॥ ७ ॥

इहामुत्र विरक्तस्य नित्यानित्यविवेकिनः ।
आश्चर्यं मोक्षकामस्य मोक्षादेव विभीषिका ॥ ८ ॥

जो नित्यानित्य-वस्तु-विवेकी लौकिक-पारलौकिक भोगोंसे विरक्त एवं मुमुक्षु पुरुष भी मोक्षसे (विषयोंके अदर्शनरूप नाशसे) डरता है, यह बड़े आश्चर्यकी बात है ॥ ८ ॥

धीरस्तु भोज्यमानोऽपि पीड्यमानोऽपि सर्वदा ।
आत्मानं केवलं पश्यन्न तुष्यति न कुप्यति ॥ ९ ॥

धीर पुरुष तो चाहे कोई भोग दे अथवा ताड़ना (पीड़ा), सर्वदा केवल आत्म-दृष्टि रखता है। न तुष्ट होता है, न रुष्ट ॥ ९ ॥

चेष्टमानं शरीरं स्वं पश्यत्यन्यशरीरवत् ।
संस्तवे चापि निन्दायां कथं क्षुभ्येन्महाशयः ॥१०॥

महापुरुष तो कर्ममें लगे हुए अपने शरीरको दूसरेके शरीरके समान समझता है। चाहे कोई स्तुति करे चाहे निन्दा, उसे क्षोभ क्योंकर होगा ? ॥ १० ॥

मायामात्रमिदं विश्वं पश्यन् विगतकौतुकः ।
अपि सन्निहिते मृत्यौ कथं त्रस्यति धीरधीः ॥११॥

स्थितप्रज्ञ एवं आश्चर्यरहित पुरुष इस विश्वको जादूका खेल (माया मात्र) समझता है। मौतको सामने देखकर भी भला वह क्योंकर डरेगा ? ॥ ११ ॥

निःस्पृहं मानसं यस्य नैराश्येऽपि महात्मनः ।
तस्यात्मज्ञानतृप्तस्य तुलना केन जायते ॥१२॥

जिस महात्मा पुरुषकी चित्त-वृत्तियाँ मोक्ष पदके लिए भी अथवा निर्विकल्प समाधिके लिए भी विचलित नहीं होती उस आत्म-ज्ञान-तृप्तकी समता भला किसके साथ की जा सकती है ॥ १२ ॥

स्वभावादेव जानानो दृश्यमेतन्न किञ्चन ।
इदं ग्राह्यमिदं त्याज्यं स किं पश्यति धीरधीः ॥१३॥

जो यह जानता है कि यह सम्पूर्ण दृश्य वस्तुतः कुछ नहीं है वह स्थित-प्रज्ञ भला यह क्यों देखने लगा कि यह ग्राह्य है और यह त्याज्य है ॥ १३ ॥

अन्तस्त्यक्तकषायस्य निर्द्वन्द्वस्य निराशिषः ।
यदृच्छयाऽऽगतो भोगो न दुःखाय न तुष्टये ॥१४॥

जिसने अपने अन्तःकरणसे वासनाओंका रंग धो दिया है, सुख-दुःखादि द्वन्द्वोंको भगा दिया है और आशा तृष्णाकी गन्धसे अछूता है, उसके सामने प्रारब्धवश भोग आवें, चाहे न आवें ; उसे सुख होता है, न दुःख ॥ १४ ॥

: ४ :

हन्तात्मज्ञस्य धीरस्य खेलतो भोगलीलया ।
न हि संसारवाहीकैर्मूढैः सह समानतः ॥ १ ॥

यह सत्य है कि स्थितप्रज्ञ आत्मज्ञानी पुरुष भी भोगके खेल खेलता है परन्तु संसारका भार ढोनेवाले मूढ़ोंके साथ उसकी कोई तुलना नहीं है ॥ १ ॥

यत्पदं प्रेप्सवो दीनाः शक्राद्याः सर्वदेवताः ।
अहो तत्र स्थितो योगी न हर्षमुपगच्छति ॥ २ ॥

इन्द्रादि सारे देवता जिस पदकी प्राप्तिके लिए अत्यन्त दीन हो रहे हैं, बड़े आश्चर्यकी बात है कि उसी पदपर स्थित होकर तत्त्वज्ञानी हर्षरूप विकारको नहीं प्राप्त होता ॥ २ ॥

तज्ज्ञस्य पुण्यपापाभ्यां स्पर्शो ह्यन्तर्न जायते ।
न ह्याकाशस्य धूमेन दृश्यमानाऽपि संगतिः ॥ ३ ॥

यद्यपि धूएँसे आकाश धूमिल-सा मालूम पड़ता है परन्तु वास्तवमें वह ऐसा नहीं है, ऐसे ही तत्त्वज्ञ पुरुषका पुण्य-पापसे (बाहर सम्बन्ध दीखनेपर भी) भीतर किसी प्रकारका संस्पर्श नहीं होता ॥ ३ ॥

आत्मैवेदं जगत्सर्वं ज्ञातं येन महात्मना ।
यदृच्छया वर्त्तमानं तं निषेद्धुं क्षमेत कः ॥ ४॥

जिस महापुरुषने इस तत्त्वका साक्षात्कार कर लिया है कि यह सम्पूर्ण जगत् आत्म-स्वरूप ही है, यदि वह स्वेच्छानुसार (प्रारब्धसे) बरताव करे तो उसे भला कौन रोक सकता है ? ॥ ४ ॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्ते भूतग्रामे चतुर्विधे ।
विज्ञस्यैव हि सामर्थ्यमिच्छानिच्छाविवर्जने ॥ ५ ॥

ब्रह्मासे तिनकेतक चार प्रकारके प्राणियोंमें एकमात्र तत्त्वज्ञ पुरुषकी यह शक्ति है कि वह इच्छा और अनिच्छा दोनोंका त्याग कर सके (विषयी जीव तो इच्छाका त्याग नहीं कर सकते और निर्विकल्प समाधिकी निष्ठामें तत्पर योगी अनिच्छाका परित्याग नहीं कर सकते—निष्काम-स्वरूपमें स्थित केवल तत्त्वज्ञ ही भावा-भावात्मक दोनों स्थितियोंको प्रतीतिमात्र जानता है, यही इच्छ अनिच्छाका त्याग है) ॥ ५ ॥

आत्मानमद्वयं कश्चिज्जानाति जगदीश्वरम् ।
यद्वेत्ति तत्स कुरुते न भयं तस्य कुत्रचित् ॥ ६ ॥

कोई विरला पुरुष ही आत्मा और ब्रह्मकी एकताको जानता है। इसलिए वह सब कुछ कर सकता है, उसे कहीं भी कोई भय नहीं है ॥ ६ ॥

•

न ते सङ्गोऽस्ति केनापि किं शुद्धस्त्यक्तुमिच्छसि।
संघातविलयं कुर्वन्नेवमेव लयं व्रज ॥१॥

किसी भी वस्तुके साथ तुम्हारा अध्यास (तादात्म्य) नहीं है। तुम स्वयं शुद्ध हो फिर क्या छोड़ना चाहते हो ? व्यष्टि अथवा समष्टि शरीरको इसी प्रकार विचारके द्वारा छोड़ते हुए तुम मुक्त हो जाओ ॥ १ ॥

उदेति भवतो विश्वं वारिधेरिव बुद्बुदः ।
इति ज्ञात्वैकमात्मानमेवमेव लयं व्रज ॥ २ ॥

जैसे समुद्रसे बूँद-बूँद उठते हैं वैसे ही तुमसे यह दृश्य पदार्थ उदय हो रहे हैं। इस प्रकार एकमात्र आत्म-सत्ताको ही जानकर तुम धीरे-धीरे निर्विकल्प, शान्त एवं मुक्त हो जाओ ॥ २ ॥

प्रत्यक्षमप्यवस्तुत्वाद्विश्वं नास्त्यमले त्वयि ।
रज्जुसर्प इव व्यक्तमेवमेव लयं व्रज ॥ ३ ॥

यद्यपि जगत् प्रत्यक्ष दीख रहा है तथापि यह तुम्हारे शुद्ध स्वरूपमें सर्वथा ही नहीं है। यह तो रज्जुमें सर्पके समान दीखने लगा है। ऐसा निश्चय करके तुम मुक्त हो जाओ ॥ ३ ॥

समदुःखसुखः पूर्ण आशानैराश्ययोः समः ।
समजीवितमृत्युः सन्नेवमेव लयं व्रज ॥ ४ ॥

तुम पूर्ण हो, तुम यह जानकर कि सुख-दुःख, आशा-निराशा, जीवन और मृत्यु समान ही हैं, मुक्त हो जाओ ॥ ४ ॥

आकाशवदनन्तोऽहं घटवत्प्राकृतं जगत् ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ १ ॥

मैं आकाशके समान अनन्त हूँ और यह प्राकृतिक जगत् घटके समान है (आकाशको अनन्त मानकर विचार करनेसे उसके किसी भी अंशमें घटकी सत्ता सिद्ध नहीं हो सकती) ऐसी अवस्थामें न तो इस जगत्का त्याग है, न ग्रहण है और न तो लय ही है। यही ज्ञान है (अनन्त देशकी दृष्टिसे अल्प देश नहीं है) ॥ १ ॥

महोदधिरिवाहं स प्रपञ्चो वीचिसन्निभः ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ २ ॥

मैं महासमुद्रके समान हूँ और यह प्रपञ्च तरंगके समान। यह ज्ञान है। ऐसी अवस्थामें न तो इस प्रपञ्चका त्याग है, न ग्रहण है, न रूप है (कारणकी दृष्टिसे कार्य पृथक् नहीं है) ॥ २ ॥

अहं सः शुक्तिसङ्काशो रूप्यवद्विश्वकल्पना ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ ३ ॥

मैं सीपके समान हूँ और मुझमे रजतके समान विश्वकी कल्पना हुई है। यह ज्ञान है। ऐसी वस्तु-स्थितिमें न जगत्का त्याग है, न ग्रहण है, न लय हो है। यहाँ जगत्को आत्माका विवर्त्त बतलाया है। तात्पर्य यह कि (भ्रान्तिजन्य) कार्य-कारण आदि भाव नहीं हैं ॥३॥

अहं वा सर्वभूतेषु सर्वभूतान्यथो मयि ।
इति ज्ञानं तथैतस्य न त्यागो न ग्रहो लयः ॥ ४ ॥

मैं समस्त भूतोंमें हूँ और सब भूत मुझमें हैं (सीपमें रजतके समान) यह ज्ञान है। ऐसी अवस्थामें इस जगत्का त्याग, ग्रहण अथवा लय क्या होगा ? (एकात्मवाद) ॥ ४ ॥

: ७ :

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वपोत इतस्ततः ।
भ्रमति स्वान्तवातेन न ममास्त्यसहिष्णुता ॥ १ ॥

मुझ अनन्त महासमुद्रमें मनकी वायुसे प्रेरित होकर जगत्-रूप नौका इधर-उधर घूमती रहती है, इससे मुझे कोई खिन्नता नहीं है॥१॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ जगद्वीचिः स्वभावतः ।
उदेतु वास्तमायातु न मे वृद्धिर्न च क्षतिः ॥ २ ॥

मुझ अनन्त महासमुद्रमें यह जगत्की तरंग स्वभावसे ही उठे या न उठे । न तो इससे मेरी वृद्धि होती है और न तो क्षति ॥२॥

मय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्वं नाम विकल्पना ।
अतिशान्तो निराकार एतदेवाहमास्थितः ॥ ३ ॥

मुझ अनन्त महासमुद्रमें यह विश्व केवल कल्पनामात्र है, मैं अत्यन्त शान्त और नाम रूपसे रहित हूँ, यही मेरी निष्ठा है ॥३॥

नात्मा भावेषु नो भावस्तत्रानन्ते निरञ्जने ।
इत्यसक्तोऽस्पृहः शान्त एतदेवाहमास्थितः ॥ ४ ॥

शरीरादिमें मैं आत्मा नहीं हूँ और न तो मुझ अनन्त शुद्धात्मामें शरीरादि ही हूँ (शरीर और आत्माका व्याप्य-व्यापकभाव नहीं है, वास्तवमें द्वैत है ही नहीं) अतः मुझमें न तो आसक्ति है, न स्पृहा, मैं अक्षुब्ध शान्त हूँ, यही मेरी निष्ठा है ॥ ४ ॥

अहो चिन्मात्रमेवाहमिन्द्रजालोपमं जगत् ।
अतो मम कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना ॥ ५ ॥

कैसा आश्चर्य है कि मैं केवल चित्स्वरूप हूँ और यह जगत् इन्द्रजालके समान है । अब मुझे क्यों किसमें त्याज्य और ग्रहणकी कल्पना हो ॥ ५ ॥

: ८ :

तदा बन्धो यदा चित्तं किञ्चिद्वाञ्छति शोचति ।
किञ्चिन्मुञ्चति गृह्णाति किञ्चिद्धृष्यति कुप्यति ॥ १ ॥

जब चित्त कुछ चाहता है, किसीके लिए शोक करता है, किसी वस्तुको छोड़ता-पकड़ता है और किसी वस्तुसे रुष्ट एवं तुष्ट होता है तब बन्धन है ॥ १ ॥

तदा मुक्तिर्यदा चित्तं न वाञ्छति न शोचति ।
न मुञ्चति न गृह्णाति न हृष्यति न कुप्यति ॥ २ ॥

जब चित्त चाह, शोक त्याग, ग्रहण, हर्ष और रोषसे रहित होता है तब मुक्ति है ॥ २ ॥

तदा बन्धो यदा चित्तं सक्तं कास्वपि दृष्टिषु ।
तदा मोक्षो यदा चित्तमासक्तं सर्वदृष्टिषु ॥ ३ ॥

जब चित्त किन्हीं दृष्टियोंमें आसक्त है तब बन्धन है । जब चित्त किसी भी दृष्टिमें आसक्त नहीं है तब मोक्ष है ॥ ३ ॥

यदा नाहं तदा मोक्षो यदाहं बन्धनं तदा ।
मत्वेति हेलया किञ्चिन्मा गृहाण विमुञ्च मा ॥ ४ ॥

जब व्यष्टि-समष्टि अहंभावका बाध है तब मोक्ष है जब कहीं भी अहंभाव है तब बन्धन है । ऐसा जानकर अपेक्षासे न किसीको पकड़ो, न छोड़ो ॥ ४ ॥

ॐ

: ६ :

कृताकृते च द्वन्द्वानि कदा शान्तानि कस्य वा ।
एवं ज्ञात्वेह निर्वेदाद्भव त्यागपरोऽव्रती ।। १ ।।

'यह किया और यह नहीं किया'—यह द्वन्द्व कब, किसके शान्त हुए हैं ? ऐसा जानकर निर्वेदसे त्याग-परायण हो जाओ कोई व्रत मत लो। दृश्यकी किसी प्रतीतिके प्रति कुछ करने या न करनेका आग्रह मत करो। ज्ञानका फल अनाग्रह है) ।। १ ।।

कस्यापि तात धन्यस्य लोकचेष्टावलोकनात् ।
जीवितेच्छा बुभुक्षा च बुभुत्सोपशमं गता ।। २ ।।

कोई विरला ही महापुरुष ऐसा होता है जिसकी लोगोंके रंग-ढंग देखकर जानेकी-भोगनेकी और जाननेकी इच्छाएँ शान्त हो गयी हैं (कर्तव्य, प्राप्तव्य, ज्ञातव्य, व्यक्तव्य, ज्ञानीको नहीं रहते ।। २ ।।

अनित्यं सर्वमेवेदं तापत्रितयदूषितम् ।
असारं निन्दितं हेयमिति निश्चित्य शाम्यति ।। ३ ।।

यह संपूर्ण जगत् मानसिक, दैविक एवं भौतिक तापसे दूषित तथा अनित्य है। इसमें कुछ सार नहीं है, निन्दित एवं त्याज्य है, ऐसा निश्चय करके वह शान्त हो जाता है ।। ३ ।।

कोऽसौ कालो वयः किं वा यत्र द्वन्द्वानि नो नृणाम् ।
तान्युपेक्ष्य यथा प्राप्तवर्त्ती सिद्धिमवाप्नुयात् ॥ ४ ॥

भला ऐसा कौन-सा समय है अथवा कौन-सी अवस्था है जब मनुष्य सर्दी-गर्मी, सुख-दुःखादिके द्वन्द्वोंसे आक्रान्त नहीं रहता ? इसलिए उनकी उपेक्षा करके जब जो जैसे मिले उसीसे अपना काम चला ले । ऐसे पुरुषको ही सिद्धि मिलती है ॥ ४ ॥

नाना मतं महर्षीणां साधूनां योगिनां तथा ।
दृष्ट्वा निर्वेदमापन्नः को न शाम्यति मानवः ॥ ५ ॥

ऐसा कौन (विचारशील) मनुष्य है जो महर्षि साधु एवं योगियोंके अनेकों मतमतान्तर देख उनसे उदासीन होकर उपशान्त न हो जाय ॥ ५ ॥

कृत्वा मूर्त्तिपरिज्ञानं चैतन्यस्य न किं गुरुः ।
निर्वेदसमतायुक्त्या यस्तारयति संसृतेः ॥ ६ ॥

जो चैतन्यके स्वरूपका ज्ञान प्राप्त करके निर्वेद और समताकी युक्तिसे औरोंको भी संसार-सागरसे तार देता है वह क्या गुरु नहीं है ॥ ६ ॥

पश्य भूतविकारांस्त्वं भूतमात्रान् यथार्थतः ।
तत्क्षणाद्बन्धनिर्मुक्तः स्वरूपस्थो भविष्यसि ॥ ७ ॥

तुम पचभूतके विकारोंको (देहेन्द्रियादिको) यथार्थमें पंचभूत-मात्र ही देखो । तब तुम तत्क्षण ही बन्धन-मुक्त होकर

अपने स्वरूपमें स्थित हो जाओगे (अनात्ममें-से आत्मदृष्टि दूर होते ही अनात्मा असत् एवं आत्माकी स्वरूप-स्थिति हो जाती है ॥ ७ ॥

वासना एव संसार इति सर्वा विमुञ्च ताः ।
तत्त्यागो वासनात्यागात् स्थितिरद्य यथा तथा ॥ ८ ॥

वासना ही संसार है इसलिए इन सबका परित्याग कर दो । वासना-त्यागसे ही संसारका त्याग होता है । अब शरीर अन्तःकरण और संसारको चाहे जैसी स्थिति हो उससे कोई सम्बन्ध नहीं ॥ ८ ॥

: १० :

विहाय वैरिणं काममर्थं चानर्थसंकुलम् ।
धर्ममप्येतयोर्हेतुं सर्वत्रानादरं कुरु ॥ १ ॥

अपने शत्रु काम, भोग और अनर्थ-संकुल अर्थ तथा इन दोनोंके कारण धर्मको भी छोड़कर सर्वत्र उपेक्षाका भाव रखो ॥१॥

स्वप्नेन्द्रजालवत्पश्य दिनानि त्रीणि पञ्च वा ।
मित्रक्षेत्रधनागारदारदायादिसम्पदः ॥ २ ॥

मित्र, जमीन, धन, महल, स्त्रियाँ, उत्तराधिकार आदि सम्पत्तियाँ स्वप्न और इन्द्रजालके समान तीन या पाँच दिनकी वस्तु है, ऐसा देखो समझो ॥ २ ॥

यत्र यत्र भवेत्तृष्णा संसारं विद्धि तत्र वै ।
प्रौढवैराग्यमाश्रित्य वीततृष्णः सुखी भव ॥ ३ ॥

जहाँ-जहाँ तृष्णा है वहीं-वहीं संसार है (इच्छुक, इच्छा और इष्टकी त्रिपुटी ही संसार है) प्रौढ़ वैराग्यका आश्रय लेकर (तृष्णाको छोड़ दो और सुखी (निश्चिन्त) हो जाओ ॥ ३ ॥

तृष्णामात्रात्मको बन्धस्तन्नाशो मोक्ष उच्यते ।
भवासंसक्तिमात्रेण प्राप्तितुष्टिर्मुहुर्मुहुः ॥ ४ ॥

बन्धनका स्वरूप है केवल तृष्णा । उसके नाशका ही नाम

मोक्ष है। दृश्यवर्गमें अनासक्त होते ही बार-बार कृतकृत्यता और आनन्दकी उपलब्धि होने लगती है ॥ ४ ॥

त्वमेकश्चेतनः शुद्धो जडं विश्वमसत्तथा ।
अविद्यापि न किञ्चित्सा का बुभुत्सा तथापि ते ॥ ५ ॥

तुम एक एवं शुद्ध चेतन हो और यह विश्व जड़ तथा असत् है। जिज्ञासुओंमें परम प्रसिद्ध अविद्या भी कुछ नहीं है। फिर तुम किस वस्तुका जाननेकी इच्छा करते हो ? ॥ ५ ॥

राज्यं सुताः कलत्राणि शरीराणि सुखानि च ।
संसक्तस्यापि नष्टानि तव जन्मनि जन्मनि ॥ ६ ॥

राज्य, पुत्र, स्त्री, शरीर, सुख—इनमें तुम जन्म जन्म आसक्त रहे हो परन्तु ये कभी रहे नहीं, नष्ट हो गये ॥ ६ ॥

अलमर्थेन कामेन सुकृतेनापि कर्मणा ।
एभ्यः संसारकान्तारे न विश्रान्तमभून्मनः ॥ ७ ॥

धन-भोग अथवा पुण्य कर्म—ये सब अब काफी हो चुके हैं, बस करो। इस संसारके घोर जंगलोंमें इन साधनोंसे मनको शान्ति नहीं मिली ॥ ७ ॥

कृतं न कति जन्मानि कायेन मनसा गिरा ।
दुःखमायासदं कर्म तदद्याप्युपरम्यताम् ॥ ८ ॥

न जाने कितने जन्मोंतक तुमने शरीर, मन एवं वाणीसे परिश्रम और दुःखप्रद कर्मोंका अनुष्ठान किया है। अब भी तो उनसे उपराम हो जाओ ! ॥ ८ ॥

: ११ :

भावाभावविकारश्च स्वभावादिति निश्चयी ।
निर्विकारो गतक्लेशः सुखेनैवोपशाम्यति ।। १ ।।

भावसे अभाव और अभावसे भावरूप विकार जैसे (जाग्रत्-स्वप्नसे सुषुप्ति, जन्मसे मृत्यु, सृष्टिसे प्रलय तथा पुनः प्रलयसे सृष्टि) स्वभावसे ही होते रहते हैं। जो ऐसा निश्चय कर लेता है वह विकार एवं क्लेशसे रहित हो जाता है और उसे अनायास ही शान्ति प्राप्त होती है ।। १ ।।

ईश्वरः सर्वनिर्माता नेहान्य इति निश्चयी ।
अन्तर्गलितसर्वाशः शान्तः क्वापि न सज्जते ।। २ ।।

ईश्वर ही सर्वका निर्माता है, दूसरा कोई नहीं। जो ऐसा निश्चय कर लेता है उसकी सारी आशाएँ गल जाती हैं, वह शान्त हो जाता है और उसकी कहीं भी आसक्ति नहीं होती ।। २ ।।

आपदः सम्पदः काले दैवादेवेति निश्चयी ।
तृप्तः स्वस्थेन्द्रियो नित्यं न वाञ्छति न शोचति ।। ३ ।।

समयपर आपत्तियाँ और सम्पत्तियाँ दैव (प्रारब्ध) से होती हैं, ऐसा जो निश्चय कर लेता है वह सदा तृप्त रहता है।

उसकी इन्द्रियाँ सदा स्वस्थ रहती हैं। न तो वह अप्राप्तकी प्राप्तिकी इच्छा करता है और न तो नष्ट वस्तुके लिए शोक ही करता है। (पहले श्लोकमें स्वभाववाद, दूसरेमें ईश्वरवाद, तीसरे श्लोकमें दैववादका आश्रय लेकर अपने अकर्त्तापनका अथवा अन्त:करणकी निश्चिन्तताके उपायका वर्णन है) ॥ ३ ॥

सुखदुःखे जन्ममृत्यू दैवादेवेति निश्चयी ।
साध्यादर्शी निरायासः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥ ४ ॥

सुख-दुःख और जन्म-मृत्यु दैवसे ही होते हैं, जो ऐसा निश्चय कर लेता है, उसकी दृष्टिमें साध्य कुछ नहीं रहता। उसे परिश्रम नहीं होता और कर्म करनेपर भी वह तृप्त नहीं होता (कर्त्तव्य ही परिश्रम है) ॥ ४ ॥

चिन्तया जायते दुःखं नान्यथेहेति निश्चयी ।
तया हीनः सुखी शान्तः सर्वत्र गलितस्पृहः ॥ ५ ॥

इस संसारमें चिन्तासे ही दुःख होता है अन्यथा नहीं। जिसने ऐसा निश्चय कर लिया है वह चिन्ताहीन सुखी एवं शान्त हो जाता है, उसकी कहीं भी स्पृहा नहीं होती ॥ ५ ॥

नाहं देहो न मे देहो बोधोऽहमिति निश्चयी ।
कैवल्यमिव संप्राप्तो न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥ ६ ॥

न मैं देह हूँ और न देह मेरा है, मैं तो शुद्ध बोध-स्वरूप हूँ। जिसको ऐसा निश्चय हो गया है उसे मानो (नित्य-प्राप्त होनेके कारण) कैवल्यकी प्राप्ति हो गयी है, वह इस बातका स्मरण नहीं करता कि मैंने क्या किया और क्या नहीं किया ॥ ६ ॥

आब्रह्मस्तम्बपर्यन्तमहमेवेति निश्चयी ।
निर्विकल्पः शुचिः शान्तः प्राप्ताप्राप्तविनिर्वृतः ॥ ७ ॥

'ब्रह्मासे लेकर तिनकेतक सब मैं ही हूँ'—ऐसा जिसका निश्चय है वह संकल्प-विकल्पसे रहित पवित्र एवं शान्त है। प्राप्ति और अप्राप्ति दोनोंमें वह निश्चिन्त है ॥ ७ ॥

नानाश्चर्यमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी ।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिव शाम्यति ॥ ८ ॥

अनेक आश्चर्योंसे परिपूर्ण यह संसार कुछ नहीं है। ऐसा जिसका निश्चय है उसकी सारी वासनाएँ भस्म हो जाती हैं। वह स्फूर्तिमात्र है और वह मानो कुछ नहीं है, निर्वाण ही निर्वाण है इस प्रकार शान्त हो जाता है। (उसका जीवन स्फूर्तिमात्र है वासनायुक्त नहीं है) ॥ ८ ॥

———

कायकृत्यासहः पूर्वं ततो वाग्विस्तरासहः ।
अथ चिन्तासहस्तस्मादेवमेवाहमास्थितः ॥ १ ॥

पहले शारीरिक कर्मकी असहिष्णुता तदनन्तर वाणीके विस्तार की और फिर चिन्ता की असहिष्णुता । इसलिए मैं यों ही ज्योंका-त्यों स्थित हूँ । (कार्यका त्याग करनेसे धीरे-धीरे कारणकी भी आवश्यकता स्पष्ट हो जाती है और निःसंकल्प स्थिति हो जाती है) ॥ १ ॥

प्रीत्यभावेन शब्दादेरदृश्यत्वेन चात्मनः ।
विक्षेपैकाग्रहृदय एवमेवाहमास्थितः ॥ २ ॥

शब्दादि विषयोंमें प्रीति न होनेके कारण और आत्मा दृश्य नहीं है, इस हेतुसे मैं विक्षेपके निमित्त उपस्थित होनेपर भी एकाग्र रहता हूँ (वृत्ति विषयाकार तो स्वयं नहीं होती और आत्माकार करनेकी आवश्यकता नहीं हो सकती) इसलिए मैं यों ही स्थित हूँ ॥ २ ॥

समाध्यासादिविक्षिप्तौ व्यवहारः समाधये ।
एवं विलोक्य नियममेवमेवाहमास्थितः ॥ ३ ॥

सम्यक् अध्यास आदिके कारण विक्षेप होनेपर समाधिके लिए साधन होता है । ऐसा नियम देखकर मैं यों ही स्थित हूँ (विक्षेप नहीं तो समाधि भी नहीं) ॥ ३ ॥

हेयोपादेयविरहादेवं हर्षविषादयोः ।
अभावादद्य हे ब्रह्मन्नेवमेवाहमास्थितः ॥ ४ ॥

त्याज्य, ग्राह्य, हर्ष और विषाद न होनेके कारण हे ब्रह्मस्वरूप जनक ! मैं तो यों ही ज्यों-का-त्यों स्थित हूँ ॥ ४ ॥

आश्रमानाश्रमं ध्यानं चित्तस्वीकृतवर्जनम् ।
विकल्पं मम वीक्ष्यैतैरेवमेवाहमास्थितः ॥ ५ ॥

'यह आश्रम है और यह आश्रमका त्याग । यह ध्यान है और यह विक्षेप । यह चित्तके द्वारा स्वीकार करने योग्य है और यह नहीं'—इन बातोंसे विकल्प ही होता है इसलिए मैं तो (इन सबको छोड़कर) यों ही स्थित हूँ ॥ ५ ॥

कर्माऽनुष्ठानमज्ञानाद्यथैवोपरमस्तथा ।
बुद्ध्वा सम्यगिदं तत्त्वमेवमेवाहमास्थितः ॥ ६ ॥

जैसे अज्ञानसे कर्मानुष्ठान होता है वैसे ही अज्ञानसे उसका त्याग भी होता है । इस तत्त्वको भलीभाँति जानकर मैं तो यों ही (प्रवृत्ति-निवृत्तिसे निरपेक्ष) स्थित हूँ ॥ ६ ॥

अचिन्त्यं चिन्त्यमानोऽपि चिन्तारूपं भजत्यसौ ।
त्यक्त्वा तद्भावनं तस्मादेवमेवाहमास्थितः ॥ ७ ॥

अचिन्त्य आत्मतत्त्वका चिन्तन करनेसे भी वह चिन्तनरूप हो जाता है इसलिए उसका चिन्तन, भावना छोड़-छाड़कर मैं तो यों ही अपने स्वत सिद्ध स्वरूपमें स्थित हूँ ॥ ७ ॥

एवमेव कृतं येन स कृतार्थो भवेदसौ ।
एवमेव स्वभावो यः स कृतार्थो भवेदसौ ॥ ८ ॥

जिसने अभ्यासके द्वारा अपनेको ऐसा बना लिया वह कृतार्थ हो जाता है । जिसका ऐसा स्वभाव ही है वह स्वतः कृतार्थ है ॥ ८ ॥

: १३ :

अकिञ्चनभवं स्वास्थ्यं कौपीनत्वेऽपि दुर्लभम् ।
त्यागादाने विहायास्मादहमासे यथासुखम् ॥ १ ॥

'आत्माके सिवाय अन्य कोई वस्तु है ही नहीं' ऐसे बोधसे जो स्वस्थता प्राप्त होती है वह केवल कौपीनधारी होनेपर भी दुर्लभ है। इसलिए त्याग-ग्रहणका परित्याग करके मैं मौजसे रहता हूँ ॥१॥

कुत्रापि खेदः कायस्य जिह्वा कुत्रापि खिद्यते ।
मनः कुत्रापि तत्त्यक्त्वा पुरुषार्थे स्थितः सुखम् ॥२॥

कहीं तो शरीरको कष्ट होता है और कहीं जिह्वाको तथा कहीं मनको। इसलिए उन सबको छोड़कर अपने स्वरूपमें सुखपूर्वक स्थित हूँ ॥ २॥ (व्यवहारपर दृष्टि रखी जाय तो उसमें तो कुछ-न-कुछ हर जगह दुःख है ही, अतः उधरसे दृष्टि हटा लेनी चाहिए)।

कृतं किमपि नैव स्यादिति संचिन्त्य तत्त्वतः ।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वाऽऽसे यथासुखम् ॥३॥

शरीर अन्तःकरणादिके द्वारा किया हुआ कर्म वस्तुतः कुछ नहीं है, प्रीतीतिमात्र है, ऐसा निश्चय करके जब जो सामने आ जाता है वह करके मैं मौजसे रहता हूँ ॥ ३ ॥

कर्मनैष्कर्म्यनिर्बन्धभावा देहस्थयोगिनः ।
संयोगायोगविरहादहमासे यथासुखम् ॥ ४ ॥

कर्मका संकल्प करो अथवा उसके त्यागका संकल्प करो, यह दुराग्रह तो देहाभिमानी साधकके लिए है। न मुझसे किसीका संयोग है और न तो वियोग (क्योंकि दूसरा कोई नहीं है) इस लिए मैं यथासुख रहता हूँ ॥ ४ ॥

अर्थानर्थौ न मे स्थित्या गत्या वा शयनेन वा ।
तिष्ठन् गच्छन् स्वपंस्तस्मादहमासे यथासुखम् ॥५॥

स्थिति, गति अथवा शयनसे न मेरा कोई लाभ है न तो हानि; इसलिए बैठते, उठते-सोते मैं अपनी मौजसे रहता हूँ ॥ ५ ॥

स्वपतो नास्ति मे हानिः सिद्धिर्यत्नवतो न वा ।
नाशोल्लासौ विहायास्मादहमासे यथासुखम् ॥६॥

न सोनेसे मेरी कोई हानि है और न तो यत्नतः प्राप्त सिद्धिसे कोई लाभ। इसलिए हानि और लाभ (की बुद्धिका) परित्याग करके मैं मौजसे रहता हूँ ॥ ६ ॥

सुखादिरूपानियमं भावेष्वालोक्य भूरिशः ।
शुभाशुभे विहायास्मादहमासे यथासुखम् ॥ ७ ॥

जगत्के किसी भी पदार्थमें, स्थितिमें, यह सुख है यह दुःख है ऐसा नियम नहीं है यह बात मैंने बार-बार देख ली है। इसलिए शुद्ध (हित) और अशुद्ध (अहित) बुद्धिका परित्याग करके मैं मौजसे रहता हूँ ॥ ७ ॥

प्रकृत्या शून्यचित्तो यः प्रमोदाद्भावभावनः ।
निद्रितो बोधित इव क्षीणसंसरणो हि सः ॥ १ ॥

जिसका चित्त स्वभावसे ही शून्य (विषय-चिन्तन-रहित) है और जो प्रमाद (उपेक्षा, बेगार टालनेकी तरह) से विषयोंमें बरत लेता है सो भी इस तरह मानो कोई गाढी नींदसे जगाया हुआ पुरुष आलस्यभरे शरीरसे काम कर रहा हो । ऐसा पुरुष संसारसे रहित ही है ॥ १ ॥

क्व धनानि क्व मित्राणि क्व मे विषयदस्यवः ।
क्व शास्त्रं क्व च विज्ञानं यदा मे गलिता स्पृहा ॥२॥

जब मेरी स्पृहा ही नष्ट हो गयी तब धन क्या, मित्र क्या और मेरे लिए विषय-रूप लुटेरे भी क्या ? और तो क्या मेरे लिए शास्त्र और विज्ञान भी तो कुछ नहीं है ? ॥ २ ॥

विज्ञाते साक्षिपुरुषे परमात्मनि चेश्वरे ।
नैराश्ये बन्धमोक्षे च न चिन्ता मुक्तये मम ॥ ३ ॥

शुद्ध त्वं-पदार्थ और शुद्ध तत्पदार्थ दोनों एक ही साक्षी हैं । यह बात जान लेने पर जब बन्ध और मोक्ष दोनोंकी आस्था नष्ट हो गयी तब मुझे मुक्तिके लिए क्या चिन्ता हो सकती है ॥ ३ ॥

अन्तर्विकल्पशून्यस्य बहिः स्वच्छन्दचारिणः ।
भ्रान्तस्येव दशास्तास्तास्तादृशा एव जानते ॥ ४ ॥

जो भीतरसे तो विकल्प-शून्य है और बाहरसे भ्रान्त पुरुषके समान स्वच्छन्द आचरण करता है, उसकी उन-उन अनिर्वचनीय अवस्थाओंको वैसे लोग ही जानते हैं ॥ ४ ॥

: १५ :

यथातथोपदेशेन कृतार्थः सत्त्वबुद्धिमान् ।
अजीवमपि जिज्ञासुः परस्तत्र विमुह्यति ॥ १ ॥

सात्त्विक बुद्धिसे सम्पन्न पुरुषको जैसे-तैसे थोड़ेमें भी समझा दो तो वह कृतार्थ हो जाता है और इससे हीन पुरुष तो जीवन-भर जिज्ञासा करता फिरे तो भी मोहग्रस्त ही रहता है ॥ १ ॥

मोक्षो विषयवैरस्यं बन्धो वैषयिको रसः ।
एतावदेव विज्ञानं यथेच्छसि तथा कुरु ॥ २ ॥

विषयोंका नीरस हो जाना ही मोक्ष है, विषयमें रस आना ही बन्धन है; बस इतना ही विज्ञान है । [इसे जानकर] जो इच्छा हो करो ॥ २ ॥

वाग्मिप्राज्ञमहोद्योगं जनं मूकजडालसम् ।
करोति तत्त्वबोधोऽयमतस्त्यक्तो बुभुक्षुभिः ॥ ३ ॥

यह तत्त्वबोध वक्ताको मूक, प्राज्ञको जड़ और महान् उद्योगी को आलसी बना देता है । इसलिए भोग चाहने वालोंने इसका परित्याग कर दिया है ॥ ३ ॥

न त्वं देहो न ते देहो भोक्ता कर्ता न वा भवान् ।
चिद्रूपोऽसि सदा साक्षी निरपेक्षः सुखं चर ॥४॥

न तुम देह हो और न देह तुम्हारा है, न तुम कर्त्ता हो और न तुम भोक्ता। तुम सदा एकरस चेतन साक्षी हो। निरपेक्ष होकर सुखसे विचरो ॥ ४ ॥

रागद्वेषौ मनोधर्मौ न मनस्ते कदाचन।
निर्विकल्पोऽसि बोधात्मा निर्विकारः सुखंचर ॥ ५ ॥

राग-द्वेष मनके धर्म हैं और यह मन कदापि तुम्हारा नहीं है। तुम विकल्प एवं विकारसे रहित बोधस्वरूप हो। सुखसे विचरो ॥ ५ ॥

सर्वभूतेषु चात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
विज्ञाय निरहंकारो निर्ममत्वं सुखी भव ॥ ६ ॥

समस्त पदार्थोंमें अपने-आपको और समस्त पदार्थोंको अपने-आपमें जानकर अहंकार और ममतासे रहित एवं सुखी हो जाओ [जहाँ आधार आधेय भाव नियत होता है वहाँ वह सत्य होता है आत्मा और विश्वमें वह (आधार-आधेय भाव) अनियत है, इसलिए रज्जु-सर्पके समान मिथ्या है। केवल आत्मा ही है ॥ ६ ॥

विश्वं स्फुरति यत्रेदं तरंगा इव सागरे।
तत्त्वमेव न संदेहश्चिन्मूर्ते विज्वरो भव ॥ ७ ॥

ओ चित्स्वरूप! जिस अधिष्ठान चैतन्यमें, समुद्रमें तरंगके समान यह विश्व चमक रहा है, वह तुम ही हो; इसमें सन्देह नहीं—निश्चिन्त हो जाओ ॥ ७ ॥

श्रद्धत्स्व तात श्रद्धत्स्व नात्र मोहं कुरुष्व भोः।
ज्ञानस्वरूपो भगवानात्मा त्वं प्रकृतेः परः ॥ ८ ॥

वत्स ! श्रद्धा करो श्रद्धा करो, इस सम्बन्धमें भूल मत करो। तुम्हारा शुद्ध स्वरूप प्रकृतिसे परे केवल ज्ञान और तत् पदके लक्ष्यार्थसे एक है। तुम [ईश्वरत्व और जीवत्वकी उपाधिसे मुक्त] आत्मा हो ॥ ८॥

गुणैः संवेष्टितो देहस्तिष्ठत्यायाति याति च।
आत्मा न गन्ता नागन्ता किमेनमनुशोचसि ॥ ९ ॥

गुणोंसे [संस्कार, वासना, इन्द्रिय, वृत्ति और प्राणोंसे] लपेटा हुआ (वेष्टित) यह शरीर ही स्थित है और यही आता-जाता है। आत्मा न आता है, न जाता है; फिर तुम इसके लिए क्यों शोक करते हो ? ॥ ९ ॥

देहस्तिष्ठतु कल्पान्तं गच्छत्वद्यैव वा पुनः।
क्व वृद्धिः क्व च वा हानिस्तव चिन्मात्ररूपिणः॥१०॥

चाहे यह शरीर कल्पपर्य्यंत रहे और चाहे आज ही मर-मिट जाय, तुम केवल चित् स्वरूप हो। इससे तुम्हारी हानि अथवा लाभ ही क्या है ? ॥ १० ॥

त्वय्यनन्तमहाम्भोधौ विश्ववीचिः स्वभावतः।
उदेतु वास्तमायातु न ते वृद्धिर्न वा क्षतिः॥११॥

तुम अनन्त महासमुद्र हो और तुममें यह विश्व एक नन्हीं-सी तरंग। यह स्वभावसे ही उठे या न उठे। इससे न तो तुम्हारी कोई बढ़ती है और न घटती ॥ ११ ॥

तात चिन्मात्ररूपोऽसि न ते भिन्नमिदं जगत्।
अतः कस्य कथं कुत्र हेयोपादेयकल्पना॥१२॥

वत्स ! तुम केवल चित्स्वरूप हो। यह जगत् तुमसे भिन्न नहीं है। ऐसी स्थितिमें किसे, कहाँ, क्यों, हेय और उपादेयकी कल्पना हो ॥ १२ ॥

एकस्मिन्नव्यये शान्ते चिदाकाशेऽमले त्वयि ।
कुतो जन्म कुतः कर्म कुतोऽहंकार एव च ॥१३॥

तुम एक अविनाशी शान्त एवं निर्मल चिदाकाश हो। तुममें जन्म कहाँ ? कर्म कहाँ ? और अहंकार ही कहाँ ? ॥ १३ ॥

यत्त्वं पश्यसि तत्रैकस्त्वमेव प्रतिभाससे ।
किं पृथग्भासते स्वर्णात्कटकाङ्गदनूपुरम् ॥१४॥

जो कुछ तुम देखते हो उस दीखनेवाले पदार्थके रूपमें एकमात्र तुम्हीं प्रतीत हो रहे हो। क्या कड़े, बाजूबन्द और पायजेब स्वर्णसे पृथक् प्रतीत होते हैं ? ॥ १४ ॥

अयं सोऽहमयं नाहं विभागमिति सन्त्यज ।
सर्वमात्मेति निश्चित्य निःसंकल्पः सुखी भव ॥१५॥

यह मैं हूँ, वह मैं हूँ, यह मैं नहीं हूँ, इस बँटवारेको छोड़ दो। सब आत्मा ही है ऐसा निश्चय करके निःसंकल्प और सुखी हो जाओ ॥ १५ ॥

तवैवाज्ञानतो विश्वं त्वमेकः परमार्थतः ।
त्वत्तोऽन्यो नास्ति संसारी नासंसारी च कश्चन ॥१६॥

तुम्हारे निज स्वरूपके अज्ञानसे ही विश्वकी सत्ता है।

परमार्थतः एकमात्र तुम ही हो, तुमसे भिन्न न तो कोई संसारी जीव है और न कोई असंसारी (ईश्वर) ॥ १६ ॥

भ्रान्तिमात्रमिदं विश्वं न किञ्चिदिति निश्चयी ।
निर्वासनः स्फूर्तिमात्रो न किञ्चिदिव शाम्यति ॥१७॥

यह विश्व भ्रान्ति-मात्र है। वस्तुतः कुछ नहीं है। जिसका ऐसा निश्चय हो गया है—उसकी वासनाएँ नष्ट हो जाती हैं। वह स्फूर्त्ति-मात्र है, वह 'न कुछ' के समान निर्वाणका अनुभव करता है ॥ १७ ॥

एक एव भवाम्भोधावासीदस्ति भविष्यति ।
न ते बन्धोऽस्ति मोक्षो वा कृतकृत्यः सुखं चर ॥१८॥

इस संसार-समुद्रमें एक ही था और रहेगा। न तुम्हारा बन्धन है और न तो मोक्ष। तुम कृतकृत्य हो, सुखसे विचरो ॥ १८ ॥

मा संकल्पविकल्पाभ्यां चित्तं क्षोभय चिन्मय ।
उपशाम्य सुखं तिष्ठ स्वात्मन्यानन्दविग्रहे ॥१९॥

ओ चित्स्वरूप ! संकल्प और विकल्पके द्वारा अपना चित्त क्षुब्ध मत करो। उपशम, शान्त हो जाओ और अपने आनन्द-स्वरूप आत्मामें सुखसे रहो ॥ १९ ॥

त्यजैव ध्यानं सर्वत्र मा किञ्चिद्धृदि धारय ।
आत्मा त्वम्मुक्त एवासि किं विमृश्य करिष्यसि ॥२०॥

तुम कहीं भी किसीका भी ध्यान मत करो। कहीं कुछ भी हृदयमें धारणा मत करो। तुम नित्य मुक्त आत्मा हो। विचार करके भी क्या करोगे ॥ २० ॥ •

: १६ :

आचक्ष्व शृणु वा तात नानाशास्त्राण्यनेकशः ।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ।। १ ।।

वत्स ! चाहे तुम बार-बार अनेक शास्त्रोंका अध्ययन करो या श्रवण करो। फिर भी जबतक तुम सबको भूल नहीं जाओगे (निःसंकल्प दशा प्राप्त नहीं करोगे) तबतक तुम्हारी स्वरूप-स्थिति नहीं हो सकती ।। १ ।।

भोगं कर्म समाधिं वा कुरु विज्ञ तथापि ते ।
चित्तं निरस्तसर्वाशमत्यर्थं रोचयिष्यति ।। २ ।।

विवेकी ! तुम भोग करो, कर्म करो या समाधि लगाओ। तुम्हें परम सुख-शान्तिका अनुभव तो तभी होगा जब तुम्हारे चित्त-से सब आशा (क्रिया, भाव अथवा स्थितिकी आस्था) सर्वथा मिट जायगी ।। २ ।।

आयासात्सकलो दुःखी नैनं जानाति कश्चन ।
अनेनैवोपदेशेन धन्यः प्राप्नोति निर्वृतिम् ।। ३ ।।

अभ्यास (कर्म, करण और कर्त्ताकी त्रिपुटीसे तादात्म्य) से ही सब दुःखी हैं परन्तु इस बातको कोई समझता ही नहीं है। शुद्धान्तःकरण पुरुष केवल इसी उपदेशसे परम सुख-शान्तिकी प्राप्ति करते हैं ।। ३ ।।

व्यापारे खिद्यते यस्तु निमेषोन्मेषयोरपि ।
तस्यालस्यधुरीणस्य सुखं नान्यस्य कस्यचित् ॥ ४ ॥

जो महापुरुष आँख खोलने और मूँदनेके व्यापारमें भी खेदका अनुभव करता है [कर्त्तव्यके स्वीकार-मात्रको साक्षी भावसे च्युति समझता है] उसी आलसी-शिरोमणिको सुख है और किसीको नहीं ॥ ४ ॥

इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तं यदा मनः ।
धर्मार्थकाममोक्षेषु निरपेक्षं तदा भवेत् ॥ ५ ॥

'जब यह किया और यह नहीं किया' इन द्वन्द्वोंसे मन मुक्त हो जाता है, तब वह धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष इन चारों पुरुषार्थोंसे निरपेक्ष हो जाता है ॥ ५ ॥

विरक्तो विषयद्वेष्टा रागी विषयलोलुपः ।
ग्रहमोक्षविहीनस्तु न विरक्तो न रागवान् ॥ ६ ॥

विरक्त पुरुष विषयसे द्वेष करता है और रागी पुरुष विषयोंके लिए मचलता रहता है, परन्तु जो ग्रहण और त्यागके भावसे रहित है वह तो न विरक्त है और न तो रागी है ॥ ६ ॥

हेयोपादेयता तावत्संसारविटपाङ्कुरः ।
स्पृहा जीवति यावद्वै निर्विचारदशास्पदम् ॥ ७ ॥

स्पृहाका आश्रय है अविवेक-दशा । यह जबतक रहती है तबतक त्याज्य और ग्राह्यका भेद रहता है, यही संसार रूप वृक्षका अंकुर है ॥ ७ ॥

प्रवृत्तौ जायते रागो निवृत्तौ द्वेष एव हि ।
निर्द्वन्द्वो बालवद्धीमानेवमेव व्यवस्थितः ॥ ८ ॥

प्रवृत्तिमें राग हो जाता है और निवृत्तिमें द्वेष हो जाता है परन्तु विवेकी पुरुष तो बालकके समान निर्द्वन्द्व होता है। इसलिए वह यों ही (प्रवृत्ति-निवृत्तिमें समान) रहता है ॥ ८ ॥

हातुमिच्छति संसारं रागी दुःखजिहासया ।
वीतरागो हि निर्दुःखस्तस्मिन्नपि न खिद्यति ॥ ९ ॥

रागी पुरुष दुःखसे छूटनेकी इच्छासे संसारका त्याग करना चाहता है, परन्तु वीत-राग पुरुष दुःख रहित होनेके कारण संसार-में भी खेदका अनुभव नहीं करता ॥ ९ ॥

यस्याभिमानो मोक्षेऽपि देहेऽपि ममता तथा ।
न च योगी न वा ज्ञानी केवलं दुःखभागसौ ॥ १० ॥

जिसको अपनी मुक्तिका भी अभिमान है और शरीरमें भी ममता है—वह न तो योगी है न ज्ञानी, केवल दुःखका ही हक-दार है ॥ १० ॥

हरो यद्युपदेष्टा ते हरिः कमलजोऽपि वा ।
तथापि न तव स्वास्थ्यं सर्वविस्मरणादृते ॥ ११ ॥

चाहे तुम्हें शिवजी, भगवान् विष्णु अथवा ब्रह्मा ही उपदेश क्यों न करें फिर भी सबका विस्मरण हुए बिना तुम्हारी स्वरूप-स्थिति नहीं हो सकती ॥ ११ ॥

: १७ :

तेन ज्ञानफलं प्राप्तं योगाभ्यासफलं तथा ।
तृप्तः स्वच्छेन्द्रियो नित्यमेकाकी रमते तु यः ॥ १ ॥

जो अपने आपमें तृप्त है, जिसकी इन्द्रियाँ पवित्र हैं और जो हमेशा अपने एकाकीपनेमें ही रमता है उसने ज्ञानका तथा योगाभ्यासका फल प्राप्त कर लिया ॥ १॥

न कदाचिज्जगत्यस्मिंस्तत्त्वज्ञो हन्त खिद्यति ।
यत एकेन तेनेदं पूर्णं ब्रह्माण्डमण्डलम् ॥ २ ॥

बड़े आश्चर्यकी बात है कि तत्त्वज्ञ पुरुष इस जगत्में कभी खेदका अनुभव नहीं करता, क्योंकि उस एकके ही द्वारा यह समस्त ब्रह्माण्ड-मण्डल परिपूर्ण हो रहा है ॥ २ ॥

न जातु विषयाः केऽपि स्वारामं हर्षयन्त्यमी ।
सल्लकीपल्लवप्रीतमिवेभं निम्बपल्लवाः ॥ ३ ॥

आत्माराम पुरुषको दृश्य जगत्के कोई भी विषय कभी हर्षित करनेमें समर्थ नहीं हैं, ठीक वैसे ही जैसे मीठी-मीठी सल्लकी लताके पत्तों से तृप्त हाथीको नीमके कड़वे पत्ते ॥ ३ ॥

यस्तु भोगेषु भुक्तेषु न भवत्यधिवासितः ।
अभुक्तेषु निराकांक्षी तादृशो भवदुर्लभः ॥ ४ ॥

जो महापुरुष भोगोंका भोग समाप्त हो जानेपर उनकी वासनासे युक्त नहीं हो जाता और भोगोंके न मिलनेपर उनकी आकांक्षा नहीं करता, ऐसा (महापुरुष) संसारमें दुर्लभ है ॥ ४ ॥

बुभुक्षुरिह संसारे मुमुक्षुरपि दृश्यते ।
भोगमोक्षनिराकांक्षी विरलो हि महाशयः ॥ ५ ॥

इस जगत्में बुभुक्षु और मुमुक्षु दोनों ही मिलते हैं परन्तु महापुरुष जो भोग और मोक्ष दोनों नहीं चाहता हो कोई विरला ही होता है ॥ ५ ॥

धर्मार्थकाममोक्षेषु जीविते मरणे तथा ।
कस्याप्युदारचित्तस्य हेयोपादेयता न हि ॥ ६ ॥

किसी भी उदारचित्त तत्त्वज्ञानी पुरुषकी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष, जीवन तथा मरणमें हेयोपादेय बुद्धि नहीं होती ॥ ६ ॥

वाञ्छा न विश्वविलये न द्वेषस्तस्य च स्थितौ ।
यथा जीविकया तस्माद्धन्य आस्ते यथासुखम् ॥ ७ ॥

न विश्वके विलयकी इच्छा है और न तो इसकी स्थितिसे कोई द्वेष है, इसलिए कृतकृत्य पुरुष जैसे जीवन-निर्वाह हो वैसे ही यथा-प्राप्तमें मौजसे रहते हैं ॥ ७ ॥

कृतार्थोऽनेन ज्ञानेनेत्येवं गलितधीः कृती ।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम् ॥ ८ ॥

इस ज्ञानसे मैं कृतार्थ हूँ—ऐसा निश्चय होते ही बुद्धि-वृत्तियाँ क्षीण हो जाती हैं, इसलिए कृतार्थ पुरुष नेत्रसे दर्शन, श्रोत्रसे श्रवण,

त्वचासे स्पर्श, नासिकासे घ्राण और रसनासे रस ग्रहण करता हुआ भी मस्तीसे रहता है ॥ ८ ॥

शून्या दृष्टिर्वृथा चेष्टा विकलानीन्द्रियाणि च ।
न स्पृहा न विरक्तिर्वा क्षीणसंसारसागरे ॥ ९ ॥

जिसका संसार-सागर सूख गया है (मरुस्थलमें प्रतीयमान समुद्रमें-से समुद्रत्व-बुद्धिके बोधके समान संसारमें-से संसारत्व-बुद्धि बाधित हो गयी है) उसकी दृष्टि शून्य है, चेष्टाएँ व्यर्थ हैं अथवा इन्द्रियाँ विकल हैं—इन बातोंमें न स्पृहा है न तो विरक्ति ॥ ९ ॥

न जागर्ति न निद्राति नोन्मीलति न मीलति ।
अहो परदशा क्वापि वर्तते मुक्तचेतसः ॥१०॥

न जागता है न सोता है, न आँखें खोलता है न मीचता है। बड़े आश्चर्यकी बात है कि मुक्त-चित्त पुरुषको कुछ विलक्षण ही अनिर्वचनीय-सी दशा होती है ॥ १० ॥

सर्वत्र दृश्यते स्वस्थः सर्वत्र विमलाशयः ।
समस्तवासनामुक्तो मुक्तः सर्वत्र राजते ॥११॥

मुक्त पुरुष सर्वत्र स्वस्थ रहता है। सर्वत्र उसका हृदय निर्मल रहता है। लेशमात्र भी वासना उसका स्पर्श नहीं कर सकती। वह सर्वत्र एक-सा शोभायमान होता है ॥ ११ ॥

पश्यञ्छृण्वन् स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन् गृह्णन् वदन् व्रजन् ।
ईहितानीहितैर्मुक्तो मुक्त एव महाशयः ॥१२॥

महानिश्चय-सम्पन्न महापुरुष देखते, सुनते, छूते, सूँघते,

भोगते, पकड़ते, बोलते और चलते भी रागद्वेष, इच्छा एवं अनिच्छा-से मुक्त ही रहता है। वास्तवमें वह मुक्त ही है ॥ १२ ॥

न निन्दति न च स्तौति न हृष्यति न कुप्यति ।
न ददाति न गृह्णाति मुक्तः सर्वत्र नीरसः ॥१३॥

मुक्त पुरुषको किसी भी अनात्माके समान प्रतीयमान वस्तुमें रस नहीं है। इसलिए वह निन्दा-स्तुति, हर्ष-क्रोध, दान और आदानसे सर्वथा रहित होता है ॥ १३ ॥

सानुरागां स्त्रियं दृष्ट्वा मृत्युं वा समुपस्थिताम् ।
अविह्वलमनाः स्वस्थो मुक्त एव महाशयः ॥१४॥

जो महानिश्चय-सम्पन्न महापुरुष अपने सामने अनुरागवती युवती अथवा मृत्युको भी उपस्थित देखकर विह्वल नहीं होता, स्वस्थ रहता है; वह पुरुष मुक्त ही है ॥ १४ ॥

सुखे दुःखे नरे नार्यां संपत्सु च विपत्सु च ।
विशेषो नैव धीरस्य सर्वत्र समदर्शिनः ॥१५॥

स्थित-प्रज्ञ एवं सर्वत्र समदर्शी पुरुषके लिए सुख-दुःख स्त्री-पुरुष और सम्पत्ति-विपत्तिमें कोई अन्तर नहीं है ॥ १५ ॥

न हिंसा नैव कारुण्यं नौद्धत्यं न च दीनता ।
नाश्चर्यं नैव च क्षोभः क्षीणसंसरणे नरे ॥१६॥

जिस पुरुषका संसार-भाव नष्ट हो चुका है—उसमें न हिंसा है और न तो करुणा ! न उच्छृङ्खलता है और न तो दीनता । उसके लिए न तो कहीं आश्चर्यकी बात है और न क्षोभकी ॥१६॥

न मुक्तो विषयद्वेष्टा न वा विषयलोलुपः ।
असंसक्तमनाः नित्यं प्राप्ताप्राप्तमुपाश्नुते ॥१७॥

मुक्त पुरुष न तो विषयोंसे द्वेष करता है और न तो उनके लिए लोलुप होता है। उसका मन कहीं भी आसक्त नहीं होता। वह सदा प्राप्त एवं अप्राप्त वस्तुका उपभोग करता है ॥ १७ ॥

समाधानासमाधानहिताहितविकल्पनाः ।
शून्यचित्तो न जानाति कैवल्यमिव संस्थितः ॥१८॥

दृश्य मिथ्यात्वके कालमें जिसका चित्त शून्य हो गया है और जो अपने कैवल्य-स्वरूपमें मानों स्थित है वह पुरुष समाधि और विक्षेप, हित और अहितकी झूठी कल्पनाओंको जानता ही नहीं है ॥ १८ ॥

निर्ममो निरहङ्कारो न किञ्चिदिति निश्चितः ।
अन्तर्गलितसर्वाशः कुर्वन्नपि न लिप्यते ॥१९॥

जिसकी अहता और ममता नष्ट हो चुकी है, जिसका यह निश्चय है कि मेरे सिवाय और कुछ है ही नहीं, उसकी सब आशा और अवस्थाएँ भीतर ही गल जाती हैं। और वह करता हुआ भी कर्तृत्व (कर्म अथवा फल)से लिप्त नहीं होता ॥ १९ ॥

मनः प्रकाशसंमोहस्वप्नजाड्यविवर्जितः ।
दशां कामपि संप्राप्तो भवेद्गलितमानसः ॥२०॥

जिसका मन और मानस-संसार सत्ता-शून्य हो चुका है वह किसी ऐसी अनिर्वचनीय अवस्थामें स्थित हो जाता है कि न तो उसे मनका प्रकाश, मोह अथवा स्वप्नावस्था कह सकते और न तो जड़ अवस्था ही कह सकते हैं ॥ २० ॥

: १८ :

यस्य बोधोदये तावत्स्वप्नवद्भवति भ्रमः ।
तस्मै सुखैकरूपाय नमः शान्ताय तेजसे ॥ १ ॥

जिसके बोधका उदय होनेपर, जागनेपर स्वप्नके समान भ्रमकी निवृत्ति हो जाती है, उस एकमात्र सुखस्वरूप शान्त प्रकाशको नमस्कार है [प्रकाश अर्थात् बोद्धा और बोध्यसे रहित शुद्ध बोध। नमस्कार अर्थात् उस सत्तासे अपनी सत्ताका अपार्थक्य] ॥ १ ॥

अर्जयित्वाऽखिलानर्थान् भोगानाप्नोति पुष्कलान् ।
न हि सर्वपरित्यागमन्तरेण सुखी भवेत् ॥ २ ॥

कोई जगत्के समस्त पदार्थोंका उपार्जन करके अधिक-से-अधिक भोग प्राप्त कर सकता है, परन्तु सबका परित्याग किये बिना कोई सुखी नहीं हो सकता ॥ २ ॥

कर्तव्यदुःखमार्तण्डज्वालादग्धान्तरात्मनः ।
कुतः प्रशमपीयूषधारासारमृते सुखम् ॥ ३ ॥

जिसका चित्त 'यह कर्त्तव्य है, यह अकर्त्तव्य है' इत्यादि दुःखोंकी मार्त्तण्ड-ज्वालासे झुलस रहा है उसे भला कर्म-त्याग रूप पीयूष-धाराका सार सेवन किये बिना सुखकी प्राप्ति कैसे हो सकती है ॥ ३ ॥

भवोऽयं भावनामात्रो न किञ्चित्परमार्थतः ।
नास्त्यभावः स्वभावानां भावाभावविभाविनाम् ॥४॥

यह संसार केवल भावना है, परमार्थतः कुछ नहीं है। भाव और अभावके रूपमें स्थित पदार्थोंका कभी अभाव नहीं हो सकता [भावका अभाव और अभावका अभाव होना भाव होना है] ॥४॥

न दूरं न च संकोचाल्लब्धमेवात्मनः पदम् ।
निर्विकल्पं निरायासं निर्विकारं निरञ्जनम् ॥ ५ ॥

आत्माका स्वरूप न दूर है न निकट। वह तो प्राप्त ही है। (तुम स्वयं ही हो।) उसमें न विकल्प है, न प्रयत्न, न विकार है, न मल ॥ ५ ॥

व्यामोहमात्रविरतौ स्वरूपादानमात्रतः ।
वीतशोका विराजन्ते निरावरणदृष्टयः ॥ ६ ॥

अज्ञानमात्रकी निवृत्ति होते ही अथवा स्वरूपका ठीक-ठीक बोध होते ही दृष्टिका आवरण-भंग हो जाता है और तत्वज्ञ पुरुष शोक-रहित होकर शोभायमान होते हैं॥ ६ ॥

समस्तं कल्पनामात्रमात्मा मुक्तः सनातनः ।
इति विज्ञाय धीरो हि किमभ्यस्यति बालवत् ॥ ७ ॥

सब कुछ कल्पनामात्र है और आत्मा नित्य मुक्त है, धीर पुरुष इस बातको जानकर फिर बालकके समान क्या अभ्यास करे ! (अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिके लिए अथवा आगन्तुक वस्तुकी निवृत्तिके लिए अभ्यास किया जाता है। जब कुछ अप्राप्त नहीं है, आगन्तुकका अस्तित्व नहीं है, तो अभ्यास किसलिए होगा ?) ॥ ७ ॥

आत्मा ब्रह्मेति निश्चित्य भावाभावौ च कल्पितौ ।
निष्कामः किं विजानाति किं ब्रूते च करोति किम् ॥ ८ ॥

आत्मा ही ब्रह्म है और भाव, अभाव कल्पित हैं—ऐसा निश्चय होते ही काम-ग्रन्थियाँ (भोक्ता, भोग्य और भोगकी त्रिपुटियाँ) शान्त हो जाती हैं। फिर क्या जाने, क्या कहे, क्या करे ? ॥ ८ ॥

अयं सोऽहमयं नाहमिति क्षीणा विकल्पनाः ।
सर्वमात्मेति निश्चित्य तूष्णीभूतस्य योगिनः ॥ ९ ॥

वही 'यह मैं हूँ यह मैं नहीं हूँ' इत्यादि विकल्पनाएँ शान्त हो गयी हैं, उस पुरुषके लिए जो सब आत्मा ही है' ऐसा निश्चय करके चुप हो गया है। (जहाँ स्पन्दन है वहाँ शब्द है, जो निस्सन्देह है वही मौन है। मौन केवल आत्मा ही है) ॥ ९ ॥

न विक्षेपो न चैकाग्र्यं नातिबोधो न मूढता ।
न सुखं न च वा दुःखमुपशान्तस्य योगिनः ॥१०॥

अपने स्वरूपमें स्थित तत्त्वज्ञके लिए न विक्षेप है और न तो एकाग्रता। न ज्ञान है न अज्ञान। न सुख है न दुःख ॥ १० ॥

स्वराज्ये भैक्ष्यवृत्तौ च लाभालाभे जने वने ।
निर्विकल्पस्वभावस्य न विशेषोऽस्ति योगिनः ॥११॥

जो तत्त्वज्ञ स्वभावसे ही निर्विकल्प है [जो अभ्यास-जनित निर्विकल्पता है वह आगन्तुक, अनात्मा, मिथ्या है] उसके लिए

अपने राज्यमें अथवा भिक्षामें, लाभ-हानिमें, भीड़में अथवा सूने जंगलमें कोई अन्तर नहीं है ॥ ११ ॥

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकता ।
इदं कृतमिदं नेति द्वन्द्वैर्मुक्तस्य योगिनः ॥१२॥

'यह कर लिया और वह कार्य शेष है' इन द्वन्द्वोंसे जो मुक्त है उसके लिए धर्म कहाँ, काम कहाँ, अर्थ कहाँ और विवेक भी कहाँ है ? ॥ १२ ॥

कृत्यं किमपि न एव न कापि हृदि रञ्जना ।
यथा जीवनमेवेह जीवन्मुक्तस्य योगिनः ॥१३॥

जीवनमुक्त ज्ञानीके लिए न तो कुछ कर्त्तव्य है और न तो उसके हृदयमें कोई रंग कहीं है। जिस प्रकार जीवन बीते वही उसकी स्थिति है ॥ १३ ॥

क्व मोहः क्व च वा विश्वं क्व तद्ध्यानं क्व मुक्तता ।
सर्वसंकल्पसीमायां विश्रान्तस्य महात्मनः ॥१४॥

जो महात्मा समस्त संकल्पोंकी सीमा पर विश्राम कर रहा है (साक्षीमात्र है) उसके लिए अज्ञान कहाँ, विश्व कहाँ, ध्यान कहाँ और मुक्ति भी कहाँ है ? ॥ १४ ॥

येन विश्वमिदं दृष्टं स नास्तीति करोतु वै ।
निर्वासनः किं कुरुते पश्यन्नपि न पश्यति ॥१५॥

जिसने इस विश्वको कभी देखा हो वह कहा करे कि 'यह नहीं

है, नहीं है।' जिसे विषय-वासना ही नहीं है वह क्या करे ? वह तो देखता हुआ भी नहीं देखता ॥ १५ ॥

येन दृष्टं परं ब्रह्म सोऽहं ब्रह्मेति न चिन्तयेत् ।
किं चिन्तयति निश्चिन्तो द्वितीयं यो न पश्यति ॥१६॥

जिसने परब्रह्मको देखा हो वह इस तरह चिन्तन किया करे कि 'मैं ही ब्रह्म हूँ—सोऽहं सोऽहं'। जिसे कुछ दूसरा दीखता ही नहीं, वह निश्चिन्त क्या चिन्तन करे ? ॥ १६ ॥

दृष्टो येनात्मविक्षेपो निरोधं कुरुते त्वसौ ।
उदारस्तु न विक्षिप्तः साध्याभावात्करोति किम् ॥१७॥

जिसने अपने स्वरूपमें कभी विक्षेप देखा है, वही निरोध करता है। तत्त्वज्ञ पुरुष तो कभी विक्षिप्त ही नहीं हुआ। उसके लिए कुछ साध्य ही नहीं है फिर वह करे क्या ? ॥ १७ ॥

धीरो लोकविपर्यस्तो वर्त्तमानोऽपि लोकवत् ।
न समाधिं न विक्षेपं न लेपं स्वस्य पश्यति ॥१८॥

तत्त्वज्ञ पुरुष तो संसारियोंसे उलटा ही होता है। वह लोगों-जैसा व्यवहार करता हुआ भी अपने स्वरूपमें न समाधि देखता है, न विक्षेप और न तो लेप ही ॥ १८ ॥

भावाभावविहीनो यस्तृप्तो निर्वासनो बुधः ।
नैव किञ्चित् कृतं तेन लोकदृष्ट्या विकुर्वता ॥१९॥

तत्त्वज्ञ पुरुष भाव और अभावसे रहित तृप्त एवं वासना रहित

है। लोक-दृष्टिसे सीधा-उलटा बहुत कुछ करते रहने पर भी वह कुछ नहीं करता ॥ १९ ॥

प्रवृत्तौ वा निवृत्तौ वा नैव धीरस्य दुर्ग्रहः ।
यदा यत्कर्तुमायाति तत्कृत्वा तिष्ठतः सुखम् ॥२०॥

तत्त्वज्ञ पुरुषका प्रवृत्ति अथवा निवृत्तिसे दुराग्रह नहीं होता है। जब जो सामने आ जाता है तब वह करके मौजसे रहता है ॥ २० ॥

निर्वासनो निरालम्बः स्वच्छन्दो मुक्तबन्धनः ।
क्षिप्तः संसारवातेन चेष्टते शुष्कपर्णवत् ॥२१॥

ज्ञानी पुरुष वासना, आलम्बन, परतन्त्रता और अज्ञानके बन्धनोंसे सर्वथा मुक्त होता है। जैसे वायुवेगसे सूखा पत्ता हिलता-डोलता उड़ता-पड़ता है, वैसे ही प्रारब्धसे उसका शरीर ॥२१॥

असंसारस्य तु क्वापि न हर्षो न विषादता ।
स शीतलमना नित्यं विदेह इव राजते ॥२२॥

संसार-मुक्त पुरुषको न कभी कहीं हर्ष होता है और न विषाद। उसका मन सर्वदा शीतल रहता है और वह सदेह होनेपर भी विदेहके समान शोभायमान होता है ॥ २२ ॥

कुत्रापि न जिहासाऽस्ति आशा वाऽपि न कुत्रचित् ।
आत्मारामस्य धीरस्य शीतलाच्छतरात्मनः ॥२३॥

जिसका अन्तःकरण शीतल एवं स्वच्छ है, अनात्मासे जिसकी

प्रीति नहीं है और जो दृश्य वर्गके परिवर्तनोंको शान्त दृष्टिसे देखता है, उसकी न तो किसी वस्तुके त्यागकी इच्छा होती है और न तो कभी कुछ पानेकी आशा ॥ २३ ॥

प्रकृत्या शून्यचित्तस्य कुर्वतोऽस्य यदृच्छया ।
प्राकृतस्येव धीरस्य न मानो नावमानता ॥२४॥

जिस धीरका चित्त स्वभावसे ही शून्य (निर्विषय) है, वह साधारण पुरुषके समान प्रारब्ध-वश (विषय होनेपर भी राग-रहित) बहुत से काम करता है परन्तु न उसे मान है और न तो अपमान ही ॥ २४ ॥

कृतं देहेन कर्मेदं न मया शुद्धरूपिणा ।
इति चिन्तानुरोधी यः कुर्वन्नपि करोति न ॥२५॥

'यह कर्म शरीरने किया है मैंने नहीं, मैं तो शुद्ध स्वरूप हूँ'-- जिसने इस प्रकार निश्चय कर लिया है, वह कर्म करता हुआ भी नहीं करता ॥ -५ ॥

अतद्वादीव कुरुते न भवेदपि बालिशः ।
जीवन्मुक्तः सुखी श्रीमान् संसरन्नपि शोभते ॥२६॥

सुखी एवं श्रीमान् जीवनमुक्त पुरुष जो करे भी और मुकर भी जाय' ऐसे विषयीके समान काम करता है परन्तु विषयी नहीं होता। यह तो संसारका कार्य करता भी अतिशय शोभाको प्राप्त होता है ॥ २६ ॥

नानाविचारसुश्रान्तो धीरो विश्रान्तिमागतः ।
न कल्पते न जानाति न शृणोति न पश्यति ॥२७॥

धीर पुरुष अनेक विचारोंसे थककर अपने स्वरूपमें विश्राम पा चुका है। वह न कल्पना करता है, न जानता है। न सुनता है और न देखता है॥ २७॥

असमाधेरविक्षेपान्न मुमुक्षुर्न चेतरः।
निश्चित्य कल्पितं पश्यन् ब्रह्मैवास्ते महाशयः॥२८॥

ज्ञानी पुरुष समाहित चित्तमें आग्रह न होनेके कारण मुमुक्षु नहीं है और विक्षेप नहीं होनेके कारण विषयी नहीं है। मेरे सिवाय जो कुछ दीख रहा है सब कल्पित ही है—ऐसा निश्चय करके सबको देखता हुआ वह वास्तवमें ब्रह्म ही है॥ २८॥

यस्यान्तः स्यादहंकारो न करोति करोति सः।
निरहंकारधीरेण न किञ्चिदकृतं कृतम्॥२९॥

जिसके भीतर अहंकार है वह देखनेमें कर्म न करे तो भी करता है पर जो धीर पुरुष निरहंकार है वह न कुछ किया और न कुछ न किया (कर्म और कर्म-त्याग) दोनोंसे सब कुछ करते हुए भी रहित है॥ २९॥

नोद्विग्नं न च संतुष्टमकर्तृस्पन्दवर्जितम्।
निराशं गतसंदेहं चित्तं मुक्तस्य राजते॥३०॥

मुक्त पुरुषके चित्तमें न उद्वेग है, न सन्तोष। न कर्तृत्व है, न स्पन्दन। न आशा है, न सन्देह। वास्तवमें ऐसे चित्तकी ही शोभा है॥ ३०॥

निर्ध्यातुं चेष्टितुं वापि यच्चित्तं न प्रवर्तते।
निर्निमित्तमिदं किन्तु निर्ध्यायति विचेष्टते॥३१॥

जीवनमुक्तका चित्त ध्यान न करनेके लिए और न तो व्यवहार करनेके लिए ही प्रवृत्त होता है किन्तु प्रवृत्ति-निमित्त शून्य होनेपर भी ध्यान भी करता है और व्यवहार भी करता है ॥ ३१ ॥

तत्त्वं यथार्थमाकर्ण्य मन्दः प्राप्नोति मूढताम् ।
अथवाऽऽयाति सङ्कोचममूढः कोऽपि मूढवत् ॥३२॥

बुद्धि-शून्य पुरुष यथार्थ तत्त्वका वर्णन सुनकर और अधिक मूढता (संशय-विपर्यय)को प्राप्त होता है। अथवा समाधिकी ओर अग्रसर हो जाता है। कभी-कभी तो कोई-कोई ज्ञानी पुरुष भी संशय-विपर्यय अथवा समाधिकी वासनासे शून्य होनेपर भी उसी मूढके समान व्यवहार करने लगते हैं ॥ ३२ ॥

एकाग्रता निरोधो वा मूढैरभ्यस्यते भृशम् ।
धीराः कृत्यं न पश्यन्ति सुप्तवत्स्वपदे स्थिताः ॥३३॥

मूढ पुरुष बार-बार एकाग्रता तथा निरोधका अभ्यास करते हैं। धीर पुरुष सुषुप्तके समान अपने स्वरूपमें स्थित रहते हैं। और एकाग्रता तथा निरोधको भी कर्त्तव्य रूपसे नहीं देखते ॥३३॥

अप्रयत्नात्प्रयत्नाद्वा मूढो नाप्नोति निर्वृतिम् ।
तत्त्वनिश्चयमात्रेण प्राज्ञो भवति निर्वृतः ॥३४॥

मूढ़ पुरुष प्रयत्नसे अथवा प्रयत्न-त्यागसे शान्ति नहीं प्राप्त करता। प्रज्ञावान् पुरुष तत्त्वके निश्चय मात्रसे शान्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ३४ ॥

शुद्धं बुद्धं प्रियं पूर्णं निष्प्रपञ्चं निरामयम् ।
आत्मानं तं न जानन्ति तत्राभ्यासपरा जनाः ॥३५॥

आत्माके सम्बन्धमें जो लोग अभ्यासमें लग रहे हैं, वे अपने शुद्ध, बुद्ध, प्रिय, पूर्ण, निष्प्रपंच और निरामय ब्रह्म-स्वरूपको सर्वथा ही नहीं जानते हैं ॥ ३५ ॥

नाप्नोति कर्मणा मोक्षं विमूढोऽभ्यासरूपिणा ।
धन्यो विज्ञानमात्रेण मुक्तस्तिष्ठत्यविक्रियः ॥३६॥

अज्ञानी कर्मरूप अभ्यासके द्वारा मुक्ति नहीं पा सकता और ज्ञानी कर्म रहित होनेपर भी केवल ज्ञानसे मुक्ति प्राप्त कर लेता है ॥ ३६ ॥

मूढो नाप्नोति तद् ब्रह्म यतो भवितुमिच्छति ।
अनिच्छन्नपि धीरो हि परब्रह्म स्वरूपभाक् ॥३७॥

अज्ञानीको ब्रह्म-साक्षात्कार नहीं हो सकता क्योंकि वह ब्रह्म होना चाहता है (इच्छा ही ब्रह्मत्वमें प्रतिबन्धक है) ज्ञानी पुरुष इच्छा न करनेपर भी परब्रह्म बोध-स्वरूप है ॥ ३७ ॥

निराधारा ग्रहव्यग्रा मूढाः संसारपोषकाः ।
एतस्यानर्थमूलस्य मूलच्छेदः कृतो बुधैः ॥३८॥

अज्ञानी निराधार आग्रहोंमें पड़कर संसारका पोषण करते हैं । ज्ञानियोंने समस्त अनर्थोंकी जड़ संसार-सत्ताका ही सर्वथा उच्छेद कर दिया है ॥ ३८ ॥

न शान्तिं लभते मूढो यतः शमितुमिच्छति ।
धीरस्तत्त्वं विनिश्चित्य सर्वदा शान्तमानसः ॥३९॥

अज्ञानीको शान्ति नहीं (मिल) हो सकती क्योंकि वह

शान्त होनेकी इच्छासे युक्त है (इच्छा ही अशान्ति है)। ज्ञानी पुरुष तत्त्वका दृढ़ निश्चय करके सर्वदा शान्त मानस ही रहता है ॥ ३९ ॥

क्वात्मनो दर्शनं तस्य यद्दृष्टमवलम्बते ।
धीरास्तं तं न पश्यन्ति पश्यन्त्यात्मानमव्ययम् ॥४०॥

अज्ञानीको आत्म-साक्षात्कार कैसे हो सकता है जब कि वह दृश्य पदार्थको आलम्बन स्वीकार करता है। ज्ञानी पुरुष उन दृश्य पदार्थोंको देखता ही नहीं, वह तो अपने अविनाशी स्वरूपको ही देखता है ॥ ४० ॥

क्व निरोधो विमूढस्य यो निर्बन्धं करोति वै ।
स्वारामस्यैव धीरस्य सर्वदाऽसावकृत्रिमः ॥४१॥

जो आग्रह करता है उस मूर्खका चित्त निरुद्ध कहाँ है। स्थित-प्रज्ञ आत्मारामका चित्त तो सर्वदा स्वाभाविक ही निरुद्ध रहता है (चेत्ताका अस्तित्व नहीं रहनेसे चित्त भी नहीं रहता, यही वास्तविक निरोध है) ॥ ४१ ॥

भावस्य भावकः कश्चिन्न किञ्चिद्भावकोऽपरः ।
उभयाऽभावकः कश्चिदेवमेव निराकुलः ॥४२॥

कोई पदार्थ-सत्ताको भावना करता है और कोई पदार्थोंकी असत्ताकी भावना करता है। ज्ञानी पुरुष तो भाव-अभाव दोनोंकी भावना छोड़कर यों तो निश्चिन्त (मस्त) रहता है ॥ ४२ ॥

शुद्धमद्वयमात्मानं भावयन्ति कुबुद्धयः ।
न तु जानन्ति संमोहाद्यावज्जीवमनिर्वृताः ॥४३॥

बुद्धिहीन पुरुष अज्ञानवश अपने शुद्ध अद्वितीय स्वरूपका ज्ञान तो प्राप्त करते नहीं, भावना करते हैं। उन्हें जीवनपर्यन्त शान्ति नहीं मिलती ॥ ४३ ॥

मुमुक्षोर्बुद्धिरालम्बमन्तरेण न विद्यते ।
निरालम्बैव निष्कामा बुद्धिर्मुक्तस्य सर्वदा ॥४४॥

मुमुक्षु पुरुषकी बुद्धि कुछ-न-कुछ आलम्बन ग्रहण किये बिना नहीं रहती। मुक्त पुरुषकी बुद्धि तो सर्वथा निष्काम और निरालम्ब ही रहती है ॥ ४४ ॥

विषयद्वीपिनो वीक्ष्य चकितः शरणार्थिनः ।
विशन्ति झटिति क्रोडन्निरोधैकाग्र्यसिद्धये ॥४५॥

अज्ञानी पुरुष विषयरूपी मतवाले हाथियोंको देखकर भयभीत हो जाते हैं और शरणके लिए बराबर निरोध और एकाग्रताकी सिद्धिके लिए झट-पट चित्तकी गुफामें घुस जाते हैं ॥ ४५ ॥

निर्वासनं हरिं दृष्ट्वा तूष्णीं विषयदन्तिनः ।
पलायन्ते न शक्तास्ते सेवन्ते कृतचाटवः ॥४६॥

वासनाहीन ज्ञानी सिंह हैं, उसे देखकर विषयके मतवाले हाथी चुपचाप भाग जाते हैं। उनकी एक नहीं चलती। उलटे तरह-तरहसे खुशामद करके सेवा करते हैं ॥ ४६ ॥

न मुक्तिकारिकान्धत्ते निःशङ्को युक्तमानसः ।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्नास्ते यथासुखम् ॥४७॥

तत्त्वज्ञ पुरुष मुक्तिके साधनोंका अभ्यास नहीं करता है। निःशंक रहता है, देखते, सुनते, छूते, सूँघते, भोगते, बैंठते वह आनन्दमें मग्न रहता है ॥ ४७ ॥

वस्तुश्रवणमात्रेण शुद्धबुद्धिर्निराकुलः ।
नैवाचारमनाचारमौदास्यं वा प्रपश्यति ॥४८॥

शुद्ध बुद्धि पुरुष वस्तुतत्त्वका श्रवण करनेमात्रसे आकुलता-रहित हो जाता है, फिर आचार-अनाचार अथवा उदासीनतापर उसकी दृष्टि नहीं जाती है ॥ ४८ ॥

यदा यत्कर्तुमायाति तदा तत्कुरुते ऋजुः ।
शुभं वाप्यशुभं वापि तस्य चेष्टा हि बालवत् ॥४९॥

शुभ हो चाहे अशुभ, जो जब करनेके लिए सामने आ जाता है तब वह उसे सरलतासे कर डालता है। उसकी चेष्टा बच्चेके समान होती है ॥ ४९ ॥

स्वातन्त्र्यात्सुखमाप्नोति स्वातन्त्र्याल्लभते परम् ।
स्वातन्त्र्यान्निर्वृतिं गच्छेत् स्वातन्त्र्यात्परमं पदम् ॥५०॥

स्वतन्त्रतासे ही सुखकी प्राप्ति होती है। स्वतन्त्रतासे ही पर-तत्त्वकी उपलब्धि होती है। स्वतन्त्रतासे ही परम शान्तिकी प्राप्ति होती है। स्वतन्त्रतासे ही परम पद मिलता है। (देश, काल, वस्तु, क्रिया, भावना, स्थिति, लोक, वेद, ईश्वर, धर्म आदि-आदि समस्त दृश्य, सत्ता-शून्य, अनात्माके परतन्त्र न होना ही स्वतन्त्रता है ॥५०॥

अकर्तृत्वमभोक्तृत्वं स्वात्मनो मन्यते यदा ।
तदा क्षीणा भवन्त्येव समस्ताश्चित्तवृत्तयः ॥५१॥

जब जिज्ञासु पुरुष अपने आपको अकर्त्ता और अभोक्ता निश्चय कर लेता है तब चित्तकी समस्त वृत्तियाँ क्षीण हो ही जाती हैं ॥ ५१ ॥

उच्छृङ्खलाप्याकृतिका स्थितिर्धीरस्य राजते ।
न तु संस्पृहचित्तस्य शान्तिर्मूढस्य कृत्रिमा ॥५२॥

इसलिए स्थित-प्रज्ञ पुरुषकी उच्छृङ्खल होनेपर भी स्थिति स्वाभाविक विशेष श्रेष्ठ है । अज्ञानी पुरुषकी जिसके चित्तमें अनेक इच्छाएँ भरी हैं शान्ति, समाधि तो बनावटी हैं ॥ ५२ ॥

विलसन्ति महाभोगैर्विशन्ति गिरिगह्वरान् ।
निरस्तकल्पना धीरा अबद्धा मुक्तबुद्धयः ॥५३॥

स्थित-प्रज्ञ पुरुष कल्पना, बन्धन एवं बुद्धि-वृत्तियोंसे मुक्त होते हैं । वे महान् भोगोंमें विलास करते हैं और पर्वतोंकी गहन गुफाओंमें भी प्रवेश करते हैं ॥ ५३ ॥

श्रोत्रियं देवतां तीर्थमंगनां भूपतिं प्रियम् ।
दृष्ट्वा संपूज्य धीरस्य न कापि हृदि वासना ।५४॥

स्थित-प्रज्ञ पुरुष श्रोत्रिय, देवता, तीर्थ, स्त्री, राजा और प्रियको देखकर उनका सत्कार करता है परन्तु उसके हृदयमें कोई वासना नहीं होती ॥ ५४ ॥

भृत्यैः पुत्रैः कलत्रैश्च दौहित्रैश्चापि गोत्रजैः ।
विहस्य धिक्कृतो योगी न याति विकृतिं मनाक् ॥५५॥

सेवक, पुत्र, स्त्री, दौहित्र और सगोत्रके द्वारा हँसी उड़ाये

जानेपर, धिक्कार देनेपर भी तत्त्वज्ञ पुरुषके चित्तमें तनिक भी विकार नहीं होता ॥ ५५ ॥

संतुष्टोऽपि न सन्तुष्टः खिन्नोऽपि न च खिद्यते ।
तस्याश्चर्यदशां तां तां तादृशा एव जानते ॥५६॥

लोगोंकी दृष्टिसे प्रसन्न होनेपर भी वह प्रसन्न नहीं होता और खिन्न होनेपर भी खिन्न नहीं होता । उसकी उन आश्चर्य-दशाओंको वैसे लोग ही जानते हैं ॥ ५६ ॥

कर्त्तव्यतैव संसारो न तां पश्यन्ति सूरयः ।
शून्याकारा निराकारा निर्विकारा निरामयाः ॥५७॥

कर्त्तव्य बुद्धिका नाम ही संसार है । विद्वान् लोग उसे ही नहीं देखते क्योंकि वे शून्याकार, निराकार, निर्विकार एवं निरामय होते हैं ॥ ५७ ॥

अकुर्वन्नपि संक्षोभाद्व्यग्रः सर्वत्र मूढधीः ।
कुर्वन्नपि तु कृत्यानि कुशलो हि निराकुलः ॥५८॥

अज्ञानी पुरुष कुछ न करता हो तब भी क्षोभवश सर्वत्र व्यग्र ही रहता है । स्थित-प्रज्ञ (कुशल) पुरुष बहुत-से काम करता हुआ भी शान्त रहता है ॥ ५८ ॥

सुखमास्ते सुखं शेते सुखमायाति याति च ।
सुखं वक्ति सुखं भुङ्क्ते व्यवहारेऽपि शान्तधीः ॥५९॥

स्थित-प्रज्ञ पुरुष व्यवहारमें भी सुखसे बठता है, सुखसे सोता है, सुखसे आता-जाता है, सुखसे बोलता है और सुखसे खाता भी है ॥ ५९ ॥

स्वभावाद्यस्य नैवार्तिर्लोकवद्व्यवहारिणः ।
महाह्रद इवाक्षोभ्यो गतक्लेशः सुशोभते ॥६०॥

जो महाह्रदके समान अक्षुब्ध है, व्यवहार करते रहने पर भी साधारण लोगोंके समान स्वभावसे ही जिसको पीड़ा नहीं होती, वह दुःख रहित ज्ञानी शोभायमान होता है ॥ ६० ॥

निवृत्तिरपि मूढस्य प्रवृत्तिरुपजायते ।
प्रवृत्तिरपि धीरस्य निवृत्तिफलदायिनी ॥६१॥

मूढ़की निवृत्ति भी प्रवृत्ति हो जाती है। स्थितप्रज्ञकी प्रवृत्ति भी निवृत्तिका फल देती है ॥ ६१ ॥

परिग्रहेषु वैराग्यं प्रायो मूढस्य दृश्यते ।
देहे विगलिताशस्य क्व रागः क्व विरागता ॥६२॥

अज्ञानी पुरुष प्रायः गृह-द्रव्यादि पदार्थोंसे वैराग्य करता है परन्तु जिसका देहाभिमान नष्ट हो चुका है उसके लिए कहाँ राग कहाँ विराग ? ॥ ६२ ॥

भावनाभावनासक्ता दृष्टिर्मूढस्य सर्वदा ।
भाव्यभावनया सा तु स्वस्थस्यादृष्टिरूपिणी ॥६३॥

अज्ञानीकी दृष्टि सर्वदा भाव या अभावमें लगी रहती हैं। तत्त्वज्ञ पुरुषकी दृष्टि तो दृश्यको देखते रहनेपर भी अदृष्टि ही है ॥ ६३ ॥

सर्वारम्भेषु निष्कामो यश्चरेद्बालवन्मुनिः ।
न लेपस्तस्य शुद्धस्य क्रियमाणेऽपि कर्मणि ॥६४॥

जो तत्त्वज्ञ बड़ेसे-बड़े कामोंमें भी बालकके समान निष्काम व्यवहार करता है वह शुद्ध है। कर्म करनेपर भी वह लिप्त नहीं होता ॥ ६४।

स एव धन्य आत्मज्ञः सर्वभावेषु यः समः ।
पश्यञ्छृण्वन्स्पृशञ्जिघ्रन्नश्नन्निस्तर्षमानसः ॥६५॥

वह आत्मज्ञानी धन्य है जो समस्त स्थितियोंमें सम रहता है। देखते, सुनते, छूते सूँघते और खाते-पीते भी उसका मानस तृष्णा रहित होता है॥ ६५ ॥

क्व संसारः क्व चाभासः क्व साध्यं क्व च साधनम्।
आकाशस्येव धीरस्य निर्विकल्पस्य सर्वदा ॥६६॥

स्थितप्रज्ञ पुरुष सर्वदा आकाशके समान निर्विकल्प रहता है। उसकी दृष्टिमें संसार कहाँ और उसका भान कहाँ ? उसके लिए साध्य क्या और साधन क्या ? ॥ ६६ ॥

स जयत्यर्थसंन्यासी पूर्णस्वरसविग्रहः ।
अकृत्रिमोऽनवच्छिन्ने समाधिर्यस्य वर्तते ॥६७॥

तत्त्वज्ञ पुरुषको अपने अखण्ड स्वरूपमें सर्वदा स्वाभाविक समाधि रहती है। उसका लौकिक, पारलौकिक कोई स्वार्थ नहीं है। वह पूर्ण स्वानन्द-घन है। वास्तवमें वही विजयी है ॥ ६७ ॥

बहुनात्र किमुक्तेन ज्ञाततत्त्वो महाशयः ।
भोगमोक्षनिराकांक्षी सदा सर्वत्र नीरसः ॥६८॥

बहुत कहनेसे क्या लाभ ? स्थितप्रज्ञ तत्त्वज्ञ भोग और मोक्ष दोनोंके प्रति आकांक्षा रहित होता है और सदा सर्वत्र राग-द्वेष रहित होता है ॥ ६८ ॥

महदादि जगद्द्वैतं नाममात्रविजृम्भितम् ।
विहाय शुद्धबोधस्य किं कृत्यमवशिष्यते ॥६९॥

महत्तत्त्वसे लेकर सम्पूर्ण दृश्य द्वैत-रूप जगत् नाममात्रका पसारा है। शुद्ध बोध-स्वरूप तत्त्वज्ञने जब (बाधके द्वारा) इसका परित्याग कर दिया तब भला उसका क्या कर्त्तव्य शेष है ॥ ६९ ॥

भ्रमभूतमिदं सर्वं किञ्चिन्नास्तीति निश्चयी ।
अलक्ष्यस्फुरणः शुद्धः स्वभावेनैव शाम्यति ॥७०॥

यह सम्पूर्ण दृश्य-प्रपंच भ्रममात्र है। कुछ नहीं है। ऐसे महा-निश्चयसे सम्पन्न शुद्ध पुरुष दृश्यकी स्फूर्तिसे भी रहित हो जाता है और स्वभावसे ही शान्त हो जाता है। (ज्ञानके पश्चात् दृश्यकी स्फूर्तिसे रहित होना ही ब्रह्मात्मानुभूति है ॥ ७० ॥

शुद्धस्फुरणरूपस्य दृश्यभावमपश्यतः ।
क्व विधिः क्व च वैराग्यं क्व त्यागः क्व शमोपि वा ॥७१॥

जो शुद्ध स्फुरण-स्वरूप है, जिसे दृश्य सत्तावान् नहीं मालूम पड़ता, उसके लिए विधि क्या ? वैराग्य क्या ? त्याग क्या ? और शान्ति क्या ? ॥ ७१ ॥

स्फुरतोऽनन्तरूपेण प्रकृतिं च न पश्यतः ।
क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः क्व हर्षः क्व विषादता ॥७२॥

जो अनन्त रूपसे स्वयं ही स्फुरित हो रहा है और प्रकृतिकी पृथक् सत्ताको नहीं देखता है उसके लिए बन्ध कहाँ ? मोक्ष कहाँ ? हर्ष कहाँ और विषाद कहाँ ? ॥ ७२ ॥

बुद्धिपर्यन्तसंसारे मायामात्रं विवर्त्तते ।
निर्ममो निरहङ्कारो निष्कामः शोभते बुधः ॥७३॥

संसारका पर्यवसान है बुद्धि। अपने स्वरूपमें बोद्धा, बुद्धि, बोध्यकी त्रिपुटी मायामात्र प्रतीत हो रही है। इस तत्त्वको जाननेवाला पुरुष काम, ममता और अहंकारसे रहित होकर शोभा पाता है ॥ ७३ ॥

अक्षयं गतसंतापमात्मानं पश्यतो मुनेः ।
क्व विद्या क्व वा विश्वं क्व देहोऽहं ममेति वा ॥७४॥

जो तत्त्वज्ञ विविध तापसे रहित अपने अविनाशी स्वरूपको जानता है, उसके लिए विद्या कहाँ, विश्व कहाँ ? देह कहाँ, और अहंता-ममता कहाँ ? ॥ ७४ ॥

निरोधादीनि कर्माणि जहाति जडधीर्यदि ।
मनोरथान्प्रलापांश्च कर्तुमाप्नोति तत्क्षणात् ॥७५॥

अज्ञानी पुरुष यदि निरोधादि अभ्यासोंको छोड़ देता है तो उसके दूसरे ही क्षण बड़े-बड़े मनोरथ और प्रलाप करने लगता है ॥ ७५ ॥

मन्दः श्रुत्वापि तद्वस्तु न जहाति विमूढताम् ।
निर्विकल्पो बहिर्यत्नादन्तर्विषयलालसः ॥७६॥

अज्ञानी ब्रह्म और आत्माकी एकता श्रवण करके भी अपनी मूर्खताका परित्याग नहीं करता। वह बाहर तो प्रयत्नसे कुछ क्षणके लिए निःसंकल्प हो जाता है परन्तु भीतर विषयोंकी लालसाका बीज बना ही रहता है ॥ ७६ ॥

ज्ञानाद्गलितकर्मा यो लोकदृष्ट्यापि कर्मकृत् ।
नाप्नोत्यवसरं कर्तुं वक्तुमेव न किञ्चन ॥७७॥

आत्मज्ञानसे जिसकी कर्म-वासना गल गयी है वह लोकदृष्टिसे कर्म करता रहे तो भी उसे कुछ करने अथवा कहनेके लिए कोई अवसर नहीं मिलता [वास्तवमें वह अकर्त्ता, अवक्ता और अकाल ही है] ॥ ७७ ॥

क्व तमः क्व प्रकाशो वा हानं क्व च न किञ्चन।
निर्विकारस्य धीरस्य निरातंकस्य सर्वदा ॥७८॥

जो स्थितप्रज्ञ सर्वदा निर्विकार अतएव निरातंक है उसके लिए अज्ञान कहाँ, ज्ञान कहाँ ? त्याग कहाँ ? कुछ कहाँ, न कुछ कहाँ ? ॥ ७८ ॥

क्व धैर्यं क्व विवेकित्वं क्व निरातंकतापि वा ।
अनिर्वाच्यस्वभावस्य निःस्वभावस्य योगिनः ॥७९॥

स्थितप्रज्ञका स्वभाव अनिवर्चनीय होता है। वास्तवमें तो वह स्वभाव रहित है। उसके धैर्य कहाँ, विवेक कहाँ ? और निर्भयता भी कहाँ ? (गुणोंमें-से भी महत्त्व-बुद्धि नष्ट हो जानेसे गुणादि कहाँ ?) ॥ ७९ ॥

न स्वर्गो नैव नरको जीवन्मुक्तिर्न चैव हि ।
बहुनात्र किमुक्तेन योगदृष्ट्या न किञ्चन ॥८०॥

स्थितप्रज्ञ पुरुषके लिए न स्वर्ग है, न नरक और तो क्या जीवन्मुक्ति-विदेहमुक्ति भी नहीं है। इस सम्बन्धमें बहुत कहनेसे क्या लाभ ? वस्तु-तत्त्वके साक्षात्कारकी दृष्टिसे कुछ नहीं है ॥८०॥

नैव प्रार्थयते लाभं नालाभेनानुशोचति ।
धीरस्य शीतलं चित्तममृतेनैव पूरितम् ॥८१॥

स्थितप्रज्ञका चित्त ऐसा शीतल रहता है मानो अमृत ही लबालब भर रहा हो। न वह लाभकी अभिलाषा करता है और न हानिका शोक ॥ ८१ ॥

न शान्तं स्तौति निष्कामो न दुष्टमपि निन्दति।
समदुःखसुखस्तृप्तः किञ्चित्कृत्यं न पश्यति ॥८२॥

स्थितप्रज्ञ पुरुष न सन्तकी स्तुति करता है न दुष्टकी निन्दा। वह दुःख एवं सुखमें सम रहता है। अपने आपमें ही तृप्त रहता है और वह अपने लिए कुछ कर्त्तव्य नहीं देखता ॥ ८२ ॥

धीरो न द्वेष्टि संसारमात्मानं न दिदृक्षति ।
हर्षामर्षविनिर्मुक्तो न मृतो न च जीवति ॥८३॥

स्थितप्रज्ञ न संसारसे द्वेष करता है और न तो आत्म-दर्शन ही करना चाहता है। वह हर्ष एवं रोषसे रहित होता है। वह न तो मृत है न जीवित ॥ ८३ ॥

निःस्नेहः पुत्रदारादौ निष्कामो विषयेषु च ।
निश्चिन्तः स्वशरीरेऽपि निराशः शोभते बुधः ॥८४॥

जो पुत्र-स्त्री आदिके प्रति स्नेह रहित है, विषयोंके प्रति निष्काम है और अपने शरीरके लिए भी निश्चिन्त है, जिसे (अगले क्षणके लिए) किसी वस्तुकी आशा नहीं है, वह ज्ञानी शोभायमान होता है ॥ ८४ ॥

तुष्टिः सर्वत्र धीरस्य यथापतितवर्त्तिनः ।
स्वच्छन्दं चरतो देशान्यत्रास्तमितशायिनः ॥८५॥

जहाँ सूर्यास्त हुआ वहीं सो गया। जहाँ मौज हुई वहीं विचर गया। जो सामने आया उसीमें वर्त लिया, तात्पर्य, स्थितप्रज्ञ सर्वत्र सन्तुष्ट होता है ॥ ८५ ॥

पततूदेतु वा देहो नास्य चिन्ता महात्मनः ।
स्वभावभूमिविश्रान्तिविस्मृताशेषसंसृतेः ॥८६॥

जो अपने स्वतःसिद्ध स्वरूपकी भूमिमें विश्राम करके अशेष-विशेष-रूप प्रपंचका बाध कर चुका है उस स्थितप्रज्ञ महात्माको शरीर नष्ट हो जाय अथवा बना रहे ऐसी चिन्ता नहीं होती ॥८६॥

अकिञ्चनः कामचारो निर्द्वन्द्वश्छिन्नसंशयः ।
असक्तः सर्वभावेषु केवलो रमते बुधः ॥८७॥

ज्ञानी पुरुष अकिंचन, स्वच्छन्दचारी, निर्द्वन्द्व और सन्देह रहित होता है। वह किसी भी पदार्थमें आसक्त नहीं है। वह तो केवल विकार रहित विहार करता है ॥ ८७ ॥

निर्ममः शोभते धीरः समलोष्टाश्मकाञ्चनः ।
सुभिन्नहृदयग्रन्थि - र्विनिर्धूतरजस्तमः ॥८८॥

स्थितप्रज्ञकी हृदय-ग्रन्थि खुल जाती है। रजोगुण, तमोगुण धुल जाते हैं। वह मिट्टीके ढेले, पत्थर और सोनेको सम दृष्टिसे देखता है उसकी कहीं ममता नहीं होती। वास्तवमें वही शोभा पाता है ॥ ८८ ॥

सर्वत्रानवधानस्य न किञ्चिद्वासना हृदि।
मुक्तात्मनो वितृप्तस्य तुलना केन जायते ॥८९॥

जो प्रपंचकी किसी वस्तु पर अवधान नहीं देता (गौरसे नहीं देखता); अन्तःकरण जिसका कहीं बँधता नहीं; जो आत्मतृप्त है; उसके हृदयमें तनिक भी वासना नहीं होती। उसकी बराबरी किसके साथ की जा सकती है ॥ ८९ ॥

जानन्नपि न जानाति पश्यन्नपि न पश्यति।
ब्रुवन्नपि न च ब्रूते कोऽन्यो निर्वासनादृते ॥९०॥

वासनाहीन स्थितप्रज्ञ पुरुषके अतिरिक्त ऐसा और कौन है जो जानता हुआ भी न जाने, देखता हुआ भी न देखे और बोलता हुआ भी न बोले ॥ ९० ॥

भिक्षुर्वा भूपतिर्वापि यो निष्कामः स शोभते।
भावेषु गलिता यस्य शोभनाऽऽशोभना मतिः ॥९१॥

राजा हो चाहे रंक, जो निष्काम है वही शोभा पाता है। (निष्काम कौन ?) जिसकी दृश्य-पदार्थोंमें शुभ और अशुभ बुद्धि नहीं होती ॥ ९१ ॥

क्व स्वाच्छन्द्यं क्व संकोचः क्व वा तत्त्वविनिश्चयः।
निर्व्याजार्जवभूतस्य चरितार्थस्य योगिनः ॥९२॥

तत्त्वज्ञ निष्कपट, सरल और कृतकृत्य होता है। उसके लिए स्वच्छन्दता कहाँ, संकोच कहाँ और तत्त्व-निश्चय भी कहाँ ? ॥९२॥

आत्मविश्रान्तितृप्तेन निराशेन गतार्तिना।
अन्तर्यदनुभयेत तत्कथं कस्य कथ्यते ॥९३॥

जो अपने स्वरूपमें विश्राम करके तृप्त है, दृश्यकी आशा नहीं रखता, आर्त्ति-रहित है, वह अपने अन्तःकरणमें जिस आश्चर्यका अनुभव करता है वह कैसे किसको बतलाया जाय ? ॥ ९३ ॥

सुप्तोऽपि न सुषुप्तौ च स्वप्नेऽपि शयितो न च ।
जागरेऽपि न जागर्ति धीरस्तृप्तः पदे पदे ॥९४॥

स्थितप्रज्ञ पुरुष पद-पद पर तृप्त रहता है वह सोकर भी नहीं सोता । वह स्वप्न देखकर भी नहीं देखता । और वह जागृत-अवस्थामें रहनेपर भी नहीं जागता ॥ ९४ ॥

ज्ञः सचिन्तोऽपि निश्चिन्तः सेन्द्रियोऽपि निरिन्द्रियः ।
सबुद्धिरपि निर्बुद्धिः साहंकारोऽनहंकृतिः ॥९५॥

तत्त्वज्ञ सचिन्त होनेपर भी निश्चिन्त है । इन्द्रियवान् होनेपर भी निरिन्द्रिय है । बुद्धिमान् होनेपर भी बुद्धिहीन है ! साहंकार होनेपर भी निरहंकार है । (लोगोंकी कल्पनाएँ उसे प्रभावित नहीं करतीं) ॥ ९५ ॥

न सुखी न च वा दुःखी न विरक्तो न संगवान् ।
न मुमुक्षुर्न वा मुक्तो न किश्चिन्न च किञ्चन ॥९६॥

तत्त्वज्ञ न सुखी है न दुःखी । न विरक्त है न रक्त । न मुमुक्षु है, न मुक्त । न कुछ है, न न-कुछ ॥ ९६ ॥

विक्षेपेऽपि न विक्षिप्तः समाधौ न समाधिमान् ।
जाड्योपि न जडो धन्यः पाण्डित्येऽपि न पण्डितः ॥९७॥

तत्त्वज्ञ विक्षेपमें भी विक्षिप्त नहीं है, समाधिमें भी समाधिस्थ नहीं है । जड़तामें जड़ नहीं है और पाण्डित्यमें भी पण्डित नहीं है ॥ ९७ ॥

मुक्तो यथास्थितिस्वस्थः कृतकर्त्तव्यनिर्वृतः ।
समः सर्वत्र वैतृष्णान्न स्मरत्यकृतं कृतम् ॥९८॥

तत्त्वज्ञ समस्त स्वतः परतः स्थितियोंमें स्वरूपस्थित रहता है । कृतकृत्य होनेके कारण परम शान्त रहता है—होता है । सर्वत्र सम रहता है । तृष्णाका अभाव होनेके कारण वह 'क्या किया, क्या नहीं किया', इन बातोंका स्मरण नहीं करता ॥ ९८ ॥

न प्रीयते वन्द्यमानो निन्द्यमानो न कुप्यति ।
नैवोद्विजति मरणे जीवने नाभिनन्दति ॥९९॥

वन्दना करनेसे प्रसन्न नहीं होता । निन्दा करनेसे क्रोधित नहीं होता । मृत्युसे उद्वेग नहीं करता और जीवनका अभिनन्दन नहीं करता ॥ ९९ ॥

न धावति जनाकीर्णं नारण्यमुपशान्तधीः ।
यथा तथा यत्र तत्र सम एवावतिष्ठते ॥१००॥

स्थितप्रज्ञ भीड़-भाड़के लिए दौड़ता नहीं और न तो जंगलमें ही जाना चाहता है । वह तो चाहे-जहाँ चाहे-जैसे समरससे ही स्थित रहता है ॥ १०० ॥

: १६ :

तत्त्वविज्ञानसंदंशमादाय हृदयोदरात् ।
नानाविधपरामर्शशल्योद्धारः कृतो मया ॥ १ ॥

जैसे सफल चिकित्सक सँड़सीके द्वारा पेटमें घुसे हुए बाणोंको बड़ी चतुरतासे निकाल लेता है वैसे ही मैंने तत्त्वज्ञानके द्वारा अनेक प्रकारके संकल्प-विकल्प, विचार-मतादिको निकाल फेंका है ॥ १ ॥

क्व धर्मः क्व च वा कामः क्व चार्थः क्व विवेकता ।
क्व द्वैतं क्व च वाऽद्वैतं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥ २ ॥

मैं अपनी महिमामें स्थित हूँ। मेरे लिए धर्म कहाँ ? काम कहाँ ? अर्थ कहाँ ? विवेक कहाँ ? और तो क्या द्वैत कहाँ और अद्वैत कहाँ ? ॥ २ ॥

क्व भूतं क्व भविष्यद्वा वर्तमानमपि क्व वा ।
क्व देशः क्व च वा नित्यं स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥ ३ ॥

मैं सदा-सर्वदा अपनी महिमामें स्थित हूँ। मेरे लिए भूत, भविष्य तथा वर्तमान-रूप काल कहाँ, देश कहाँ ? ॥ ३ ॥

क्व चात्मा क्व च वानात्मा क्व शुभं क्वाशुभं तथा ।
क्व चिन्ता क्व च वाचिन्ता स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥ ४ ॥

मैं अपनी महिमामें स्थित हूँ। मेरे लिए आत्मा-अनात्मा शुभाशुभ चिन्ता एवं अचिन्ताका अस्तित्व ही कहाँ है ? ॥ ४ ॥

क्व स्वप्नः क्व सुषुप्तिर्वा क्व च जागरणं तथा ।
क्व तुरीयं भयं वापि स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥ ५ ॥

कहाँ स्वप्न और कहाँ सुषुप्ति ? कहाँ जागरण और कहाँ तुरीय ? मेरे लिए भय ही कहाँ है ? क्योंकि मैं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ ॥ ५ ॥

क्व दूरं क्व समीपं वा बाह्यं क्वाभ्यन्तरं क्व वा ।
क्व स्थूलं क्व च वा सूक्ष्मं स्वमहिम्निस्थितस्य मे ॥ ६ ॥

कहाँ दूर और कहाँ समीप ? कहाँ बाह्य और कहाँ आभ्यन्तर ? कहाँ स्थूल और कहाँ सूक्ष्म ? क्योंकि मैं अपनी स्वरूप-महिमामें स्थित हूँ ॥ ६ ॥

क्व मृत्युर्जीवितं वा क्व लोकाः क्वास्य क्व लौकिकम् ।
क्व लयः क्व समाधिर्वा स्वमहिम्नि स्थितस्य मे ॥ ७ ॥

कहाँ मृत्यु और कहाँ जीवन ? कहाँ लोक और कहाँ लौकिक ? कहाँ लय और कहाँ समाधि ? मैं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ ॥ ७ ॥

अलं त्रिवर्गकथया योगस्य कथयाऽप्यलम् ।
अलं विज्ञानकथया विश्रान्तस्य ममात्मनि ॥ ८ ॥

अर्थ, धर्म, कामकी बात बन्द करो । बस करो ! योगकी कथा अनावश्यक है । अब विज्ञानकी कथा भी बहुत हो चुकी । बस, मैं अपने स्वरूपमें स्थित हूँ ॥ ८ ॥

क्व भूतानि क्व देहो वा क्वेन्द्रियाणि क्व वा मनः ।
क्व शून्यं क्व च नैराश्यं मत्स्वरूपे निरञ्जने ॥ १ ॥

मेरे निर्मल स्वरूपमें पंचभूत कहाँ ? देह कहाँ ? इन्द्रियाँ कहाँ ? मन कहाँ ? शून्य कहाँ ? और निराशा भी कहाँ ? ॥ १ ॥

क्व शास्त्रं क्वात्मविज्ञानं क्व वा निर्विषयं मनः ।
क्व तृप्तिः क्व वितृष्णत्वं गतद्वन्द्वस्य मे सदा ॥ २ ॥

मैं सर्वदा निर्द्वन्द्व हूँ । कहाँ शास्त्र और कहाँ आत्म-विज्ञान ? कहाँ मनकी निर्विषयता और कहाँ तृप्ति ? मेरे लिए तृष्णासे रहित होना भी क्या है ? ॥ २ ॥

क्व विद्या क्व च वाऽविद्या क्वाहं क्वेदं मम क्व वा ।
क्व बन्धः क्व च वा मोक्षः स्वरूपस्य क्व रूपिता ॥ ३ ॥

स्वरूपमें विद्या कहाँ ? अविद्या कहाँ ? अहं कहाँ और इदं कहाँ ? ममता कहाँ ? बन्धन कहाँ ? मोक्ष कहाँ ? उसमें रूपपना भी कहाँ है ? ॥ ३ ॥

क्व प्रारब्धानि कर्माणि जीवन्मुक्तिरपि क्व वा ।
क्व तद्विदेहकैवल्यं निर्विशेषस्य सर्वदा ॥ ४ ॥

जो सर्वदा निर्विशेष एक-रस वस्तु है उसमें प्रारब्ध-कर्म कहाँ ? जीवन्मुक्ति कहाँ और विदेह कैवल्य कहाँ ? ॥ ४ ॥

क्व कर्ता क्व च वा भोक्ता निष्क्रियं स्फुरणं क्व वा ।
क्वापरोक्षं फलं वा क्व निःस्वभावस्य मे सदा ॥ ५ ॥

मैं सदा सर्वदा एक-रस, स्वभावरहित हूँ । मुझमें कर्त्ता कहाँ ? भोक्ता कहाँ ? निष्क्रिय स्फुरण भी कहाँ ? अपरोक्ष ज्ञान कहाँ और फल-ज्ञान कहाँ ? (वृत्ति-व्याप्ति और फल व्याप्ति दोनों ही मुझमें नहीं है) ॥ ५ ॥

क्व लोकः क्व मुमुक्षुर्वा क्व योगी ज्ञानवान् क्व वा ।
क्व बद्धः क्व च वा मुक्तः स्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥ ६ ॥

अद्वितीय अहं स्वस्वरूपमें कहाँ लोक और कहाँ मुमुक्षु ? कहाँ योगी और कहाँ ज्ञानवान् ? कहाँ बद्ध और कहाँ मुक्त ॥ ६ ॥

क्व सृष्टिः क्व च संहारः क्व साध्यं क्व च साधनम् ।
क्व साधकः क्व सिद्धिर्वा स्वस्वरूपेऽहमद्वये ॥ ७ ॥

मेरे अद्वितीय स्वस्वरूपमें कहाँ सृष्टि और कहाँ संहार ? कहाँ साध्य और कहाँ साधन ? कहाँ साधक और कहाँ सिद्धि ? ॥ ७ ॥

क्व प्रमाता प्रमाणं वा क्व प्रमेयं क्व च प्रमा ।
क्व किञ्चित्क्व न किञ्चिद्वा सर्वदा विमलस्य मे ॥ ८ ॥

मैं सर्वदा शुद्ध-स्वरूप हूँ । मुझमें न प्रमाता है न प्रमाण । न प्रमेय है न प्रमा । न कुछ है, न न-कुछ । यह सारे भेद प्रकाश्य-गत हैं । प्रकाशकसे इनका कोई सम्बन्ध नहीं । प्रकाशकसे प्रकाश्य

पृथक् नहीं होता । इसलिए जिसकी सत्तासे सबका भाव हो रहा है, वही मैं हूँ ॥ ८ ॥

क्व विक्षेपः क्व चैकाग्र्यं क्व निर्बोधः क्व मूढता ।
क्व हर्षः क्व विषादो वा सर्वदा निष्क्रियस्य मे ॥ ९ ॥

मैं सर्वदा निर्विकार, निस्पन्द, निष्क्रिय हूँ। मुझमें न विक्षेप है न एकाग्रता । न बोध है न मूढ़ता । न हर्ष है न विषाद [चित्त वृत्तिकी कोई भी अवस्था मुझमें नहीं है क्योंकि सभी अवस्थाएँ दृश्य सापेक्ष्य हैं और दृश्य है इसलिए केवल स्वस्वरूप है ॥ ९ ॥

क्व चैष व्यवहारो वा क्व च सा परमार्थता ।
क्व सुखं क्व च वा दुःखं निर्विमर्शस्य मे सदा ॥१०॥

संकल्प, विकल्प, विचार, बोध कुछ भी मुझमें नहीं है, इसलिए न व्यवहार है न परमार्थ । न सुख है न दुःख ॥ १० ॥

क्व माया क्व च संसारः क्व प्रीतिर्विरतिः क्व वा ।
क्व जीवः क्व च तद्ब्रह्म सर्वदा विमलस्य मे ॥११॥

मैं सर्वदा एक-रस सम्पूर्ण मलोंसे रहित हूँ। मुझमें माया कहाँ, संसार कहाँ ? राग कहाँ ? वैराग्य कहाँ ? जीव कहाँ ? ब्रह्म कहाँ ? (ये सारे भेद जिज्ञासुओंको समझानेके लिए अध्यारोप-मात्र हैं) ॥ ११ ॥

क्व प्रवृत्तिर्निवृत्तिर्वा मुक्तिः क्व च बन्धनम् ।
कूटस्थनिर्विभागस्य स्वस्थस्य मम सर्वदा ॥१२॥

मैं कूटस्थ निरंश और निरवयव हूँ। सदा सर्वदा अपने स्वरूपमें

ही स्थित हूँ। तब मेरे लिए प्रवृत्ति-निवृत्ति क्या है ? और मुक्ति तथा बन्धन क्या है ?॥ १२ ॥

क्वोपदेशः क्व वा शास्त्रं क्व शिष्यः क्व च वा गुरुः।
क्व चास्ति पुरुषार्थो वा निरुपाधेः शिवस्य मे ॥१३॥

मैं उपाधि रहित शिव हूँ। मेरे लिए उपदेश क्या ? शास्त्र क्या ? शिष्य क्या और गुरु क्या ? मेरे लिए पुरुषार्थका अस्तित्व नहीं है ॥ १३ ॥

क्व चास्ति क्व च वा नास्ति क्वास्ति चैकं क्व च द्वयम् ।
बहुनात्र विमुक्तेन किञ्चिन्नोत्तिष्ठते मम ॥१४॥

'है' कहाँ और 'नहीं' कहाँ ? न एक है न दो है। बहुत कहनेसे क्या लाभ ? मेरे स्वरूपमें कुछ नहीं है, कुछ नहीं है ॥१४॥

॥ समाप्त ॥